श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

विवेक शिखा

वर्ष-११ मार्च-१९९२ अंक-३

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

फार्म—४
(नियम ८ देखिए)

विवेक शिखा

प्रकाशक का घोषणा पत्र

पत्रिका का नाम : विवेक शिखा

आवर्तता : मासिक

प्रकाशन का स्थान : रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा-८४१३०१
(बिहार)

पत्रिका के स्वामी का नाम : श्रीमती गंगा देवी

क्या भारतीय नागरिक हैं : हाँ

पता— : रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा-८४१३०१
(बिहार)

सम्पादक का नाम : डॉ० केदारनाथ लाभ

क्या भारतीय नागरिक हैं : हाँ

पता— : रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा-८४१३०१
(बिहार)

मुद्रक का नाम : श्रीकान्त लाभ

क्या भारतीय नागरिक हैं : हाँ

पता— : जनता प्रेस
नया टोला
पटना-४
(बिहार)

मैं गंगा देवी एतत् द्वारा घोषणा करती हूँ कि ऊपर दी गयी जानकारी मेरी दृष्टि में सही है।

ह०/ श्रीमती गंगा देवी
प्रकाशक

इस अंक में

पृष्ठ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष - ११ १९९२ —मार्च अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा - ८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

पंच भूतों से बना यह शरीर स्थूल शरीर है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इनसे बना शरीर सूक्ष्म शरीर है। जिस शरीर के द्वारा ईश्वरीय आनन्द का अनुभव और उपभोग होना है, वह कारण शरीर है। तन्त्रशास्त्र में इसे कहते हैं, 'भागवती तनु'। इन सबसे अतीत है 'महाकारण' (तुरीय)।

(२)

जिन्होंने ईश्वर का लाभ किया है उनका भाव कैसा होता है, जानते हो? उनका भाव होता है—'मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री; मैं घर हूँ, तुम गृहिणी; मैं रथ हूँ, तुम रथी; तुम जैसा चलाते हो, वैसा ही चलता हूँ; जैसा बोलने लगाते हो, वैसा ही बोलता हूँ।

(३)

सब का ज्ञान एक जैसा नहीं होता, व्यक्ति-व्यक्ति के ज्ञान में तारतम्य होता है। संसारी जीवों का ज्ञान इतना तेज नहीं होता। वह मानो दीपक का प्रकाश है, उसके द्वारा सिर्फ कमरे में ही उजाला होता है। भक्त का ज्ञान मानो चाँदनी है, उनसे भीतर और बाहर दोनों दिखाई पड़ता है। परन्तु अवतार आदि का ज्ञान मानो सूर्य का प्रकाश है। वे मानो ज्ञान सूर्य हैं, उनके प्रकाश से युगों का संचित अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है।

श्रीरामकृष्णास्तव

—डॉ० रमाकान्त पाठक
भूतपूर्व कुलपति
मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा (बिहार)

१.

पुत्रौ मयूरासनमोदकोत्कौ, मत्वा वयस्कौ किल यं दधार।
स्वाङ्के भवानी स्वशिशुं विधाय, श्रीरामकृष्णाय नमोऽस्तु तस्मै ॥

२.

सदा स्मरन्तं भवतारिणीं तां, मार्जारिणीनीतमिवैक पोतं।
तं मातृमन्यं सततं नमाम, श्रीरामकृष्णं त्विह भक्तिकामाः।

३.

विश्रब्ध बाल्ये समभावसिद्धः, वृतस्त्वकामेन दिगम्बरेण।
योऽद्वैतबुद्धि परिचक्षणाय, श्रीरामकृष्णाय नमोऽस्तु तस्मै ॥

४.

एकत्वमानेतुमिह प्रकृष्टान्, सर्वान् हि धर्मान् तु मतं समस्तं।
कलौ कृतं स्थापयितुं पृथिव्यां, श्रीरामकृष्णाय नमोऽस्तु तस्मै ॥

५.

नमो नमस्ते भवधारणाय, नमो नमस्ते भवतारणाय।
नवीन कल्पान्तर-सारणाय, पित्रे नमः मातृतमाय तुभ्यम् ॥

भावार्थ—(१) मयूर पर चढ़ने के लिए उत्सुक (कार्तिकेय) और मोदक की ओर लपकते (गणेश) दोनों पुत्रों को सयाता मान लेने के बाद भवानी ने अपना शिशु बनाकर जिन्हें गोद में उठा लिया, उन श्रीरामकृष्ण को नमस्कार।

(२) भक्ति की कामना रखने वाले हमलोग उन श्रीरामकृष्ण को ही नमस्कार करते हैं, जो बिल्ली के द्वारा यथास्थान रख दिये गये, अनखुली आँखोंवाले उसके इकलौते बच्चे की तरह हर आहट को अपनी माँ की ही आहट मानते हैं और निरंतर अपनी उस भवतारिणी माँ की ही याद में चौकन्ने बने रहते हैं (जिस माँ ने अपने सयाने बेटों को अपनी गोद से उतार कर, उन्हें अपनी गोद में उठा लिया था)।

(३) बचपन के कायमी भोलेपन की निःशंक निर्भरता के कारण सगे-पराये के भेद से बेखबर रहने की वजह से जो समभाव में स्वतः प्रतिष्ठित हैं, कुछ न चाहनेवाले दिगम्बर ने जब अपने अद्वैतबोध को अपनी आँखों से देखना चाहा, तो दर्पण के तौर पर उन्होंने उन्हीं श्रीरामकृष्ण को चुन लिया। वैसे श्रीरामकृष्ण को नमस्कार।

(४) कलिकाल में सत्ययुग को प्रवर्तित करने की इच्छा से जिन्होंने सभी धर्मों और समस्त मतों में एकता स्थापित कर सनातन धर्म का प्रकर्ष प्रमाणित कर दिया, उन श्रीरामकृष्ण को नमस्कार।

(५) हे जगत् को कायम रखनेवाले, हे जगत् को तारनेवाले, हे नवीन कल्पान्तर की जुगुत बैठानेवाले, हे पितः, तुम तो माँ से भी बढ़कर हो। तुम्हें नमस्कार।

यथार्थ धर्म

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के दसवें अध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने मैसूर के श्रीरामकृष्ण आश्रम में १५ जून १९७१ ई० को अंगरेजी में जो व्याख्यान दिया था, वही यहाँ पर हिन्दी पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। रूपान्तरकार हैं रामकृष्ण मिशन, रायपुर के स्वामी विदेहात्मानन्द—सं०)

'धर्म' शब्द से क्या अभिप्राय है? स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—अनुभूति ही धर्म है। अन्यत्र 'राजयोग' ग्रन्थ में वे कहते हैं—"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा अन्तःप्रकृति को वशीभूत कर आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, भक्ति मनोनिग्रह या ज्ञान—इनमें से एक या अधिक या सभी उपायों के द्वारा अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। यही सम्पूर्ण धर्म है; मतवाद, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रियाकलाप इसके गौण अंग मात्र हैं।" धर्म की प्रथम परिभाषा के अनुसार हमें ईश्वरानुभूति करनी होगी और इसी को यथार्थ धर्म कहेंगे। द्वितीय परिभाषा में स्वामीजी कहते हैं कि अपने अन्तर्निहित देवत्व का विकास करना ही धर्म है। ईश्वरत्व ही हममें से प्रत्येक का वास्तविक स्वरूप है और उसकी अभिव्यक्ति ही जीवन का लक्ष्य है। अतः सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि मनुष्य-देह पाने पर सर्वप्रथम कर्तव्य है भगवान्-लाभ, बाकी चीजें गौण हैं। स्वामीजी ने भी वही बात कही। हमारे अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति को उन्होंने जीवन का उद्देश्य बतलाया और कहा कि ज्ञान-कर्म आदि चार मार्ग में से किन्हीं एक, दो या सबका आश्रय लेकर हमें मुक्त हो जाना होगा।

मन्दिर, मतवाद और अनुष्ठान आदि को स्वामीजी ने धर्म का गौण अंग कहा; परन्तु आम तौर पर हम धर्म के गौण अंगों, यथा—मन्दिर जाना, कोई व्रत-अनुष्ठान या उपवास करना आदि को ही धर्म समझ बैठते हैं। हम इन्हीं को महत्व देते हुए धर्म का सब कुछ मान बैठते हैं। हम भूल जाते हैं कि चरम सत्य की धारणा और उसकी उपलब्धि करने का प्रयास ही धर्म है। फलस्वरूप कभी-कभी तो हम इतने संकीर्ण हो जाते हैं कि जो लोग हमसे भिन्न उपायों के द्वारा धर्माचरण या सत्योपलब्धि का प्रयास करते हैं, उन्हें हम अधार्मिक समझ बैठते हैं। हम लोगों का सौभाग्य है कि बीच बीच में पृथ्वी पर ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं, जो हमें 'धर्म' शब्द का यथार्थ तात्पर्य समझा जाते हैं तथा ईश्वरोपलब्धि का राजमार्ग दिखा जाते हैं। इस प्रकार वे धर्म के सम्बन्ध में फैले कुसंस्कारों और भ्रांत-धारणाओं के रूप में संचित धर्म-ग्लानि को दूर कर हमारे सामने शास्त्रों की उचित व्याख्या रख जाते हैं। उनके जीवन तथा वाणी में शास्त्रों की सच्ची व्याख्या मुखरित हो उठती है, शास्त्रों की दुर्बोध बातें स्पष्ट हो उठती हैं और तब हमें पता चलता है कि धर्म किसे कहते हैं। एक बार भी जब इस तरह के कोई महापुरुष हमें मिल जाते हैं, तो हम धर्म के नाम पर स्वेच्छाचार करनेवालों के द्वारा दिग्भ्रमित नहीं हो पाते।

स्वामीजी के कथनानुसार पूर्वोक्त चार मार्गों में से किसी का भी अवलम्बन कर मुक्त होना ही धर्म का सार-सर्वस्व है। अब प्रश्न उठता है— किससे मुक्त होना? –बन्धन से। हमारे बन्धन का क्या स्वरूप है? आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र पर अपने प्रसिद्ध भाष्य में कहते हैं—"आत्मा और अनात्मा, चैतन्य और जड़ की प्रकृति प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर-विरोधी हैं, तथापि हम आत्मा और अनात्मा को मिला डालते हैं। आत्मा का धर्म अनात्मा पर और अनात्मा का धर्म आत्मा पर आरोपित कर हम कहते हैं—'मैं इस कमरे के अन्दर हूँ। मैं भोग कर रहा हूँ। मैं अज्ञानी हूँ।' आदि। जब मैं स्वरूपतः असीम आत्मा हूँ, तब मैं इस कमरे के भीतर कैसे सीमाबद्ध रह सकता हूँ? शरीर को ही 'मैं' समझ बैठने के कारण हम कहते हैं कि मैं कमरे में हूँ। ठीक इसी प्रकार मन के साथ एकात्म-बोध हो जाने के कारण ही हम सुख-दुःख आदि भावों से ग्रस्त होकर अपने को सुखी या दुःखी समझते हैं। इस प्रकार हम लोग अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को अनात्मा के साथ एक समझ, अनात्मा को ही आत्मा मानकर बन्धन में पड़े हुए कष्ट उठा रहे हैं। अज्ञान के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ है। अज्ञान ने हमारे ज्ञान को ढंक रखा है, इसीलिए हम यह दुःखभोग कर रहे हैं।

अब सवाल उठता है कि इस बन्धन से मुक्त होने का उपाय क्या है? धर्मजीवन प्रारम्भ करने के लिए हमारी पहली आवश्यकता है वैराग्य या त्याग का भाव। इस वैराग्य की साधना कैसे की जाय? यह साधना सत्-असत् विचार के द्वारा ही सधती है। इस विचार के फलस्वरूप हम जान सकते हैं कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है। जो वस्तु असत्य और अनित्य है, उसका कोई मूल्य नहीं। एकमात्र सत्य ही हमें स्थायी शान्ति प्रदान कर सकता है। हमें यह जान लेना चाहिए कि इस जगत् का सब कुछ दुःखपूर्ण है। यहाँ वास्तविक सुख-जैसा कुछ भी नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्"।* जब इस दुःखपूर्ण जगत् में तुम्हारा जन्म हुआ है, तो मेरा भजन करके इस दुःखरूपी बन्धन से मुक्त हो जाओ। बुद्धदेव ने भी यही बात कही। उन्हें भी वैराग्य हुआ था। एक दिन जब वे नगर में भ्रमण करने को निकले, तो मनुष्य का रोग, उसके बुढ़ापे का कष्ट तथा उसकी मृत्यु उनकी दृष्टि में आयी। यह सब देख उनका मन त्याग के भाव से भर उठा। गीता भी जीवन के दुःखमय पक्ष की ओर आँखें खुली रखने का उपदेश देती है—'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।'* हमें यह समझना ही होगा कि यह जीवन असार है। जन्म से ही मानव दुःख, व्याधि और वृद्धावस्था से कष्ट पाता रहता है और अन्ततोगत्वा काल के गाल में समा जाता है। इस प्रकार जीवन दुःखमय है। हाँ, जीवन में यदा-कदा सुख के भी दर्शन मिल जाते हैं, परन्तु जीवन का अधिकांश दुःखपूर्ण ही है। इस तरह विचार-पूर्वक हमें देखना होगा कि इस जगत् से आसक्त रहने में हमें कोई लाभ है या नहीं। उपनिषद् में लिखा है कि परलोक यानी स्वर्ग का सुख भी स्थायी नहीं है। यज्ञादि कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त स्वर्ग-सुख का अन्त अवश्यम्भावी है। यज्ञकर्ता को पुण्य का क्षय होने पर पुनः पृथ्वी पर लौटकर जन्म-जन्मान्तर के चक्र में पड़ आवागमन करना पड़ता है। इस बात को समझकर ज्ञानी जन स्वर्ग पाने की आकांक्षा का भी परित्याग करते हैं। यह जीवन जन्म-मृत्यु के द्वारा आबद्ध है। अनन्त जीवन या मुक्ति पाने के लिए हमें ज्ञानलाभ या ईश्वरोपलब्धि करनी होगी।

इस प्रकार विचार के द्वारा हम जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे—"यदि जानता कि जगत् सत्य है, तो कामारपुकुर को सोने से मढ़ डालता।" एक नवाब के एक वजीर की कहानी है। एक रात

---

* गीता, ९/३३। गीता, १३/८।

मूसलाधार बारिश हो रही थी, मौसम बहुत ही खराब था। नगर के रास्तों में घुटनेभर पानी इकट्ठा हो गया था। आधी रात को अपने घर में सोये हुये एक धोबी-दम्पत्ति ने ऐसी आवाज सुनी, मानो कोई उसी रास्ते से होकर जल पार करते हुए चला जा रहा है। बरसात लगातार हो रही थी, इसलिए चलनेवाले ने थोड़ी देर के लिए धोबी के बरामदे में शरण ली। बाहर पदचाप सुनकर धोबी की स्त्री ने अपने पति से कहा, "इस घोर रात में, इस खराब मौसम में रास्ते से होकर कौन जा रहा होगा ?" धोबी ने उत्तर दिया, "और कौन होगा ? या तो राह का कुत्ता होगा या फिर किसी बड़े आदमी का नौकर होगा। नहीं तो इस बुरे मौसम की रात में भला कौन बाहर निकलेगा ?" वास्तव में वह चलनेवाला नवाब का वजीर था, जिसे नवाब ने एक आवश्यक कार्यवश बुला भेजा था। उसने धोबी-दम्पति की बात सुनी और वह समझ गया कि बड़े आदमी का कर्मचारी होने के कारण उसे कुत्ते की श्रेणी में रखा गया है। उसमें अपने पद के प्रति ग्लानि का भाव पैदा हुआ और वह सब कुछ त्यागकर भगवान् की प्राप्ति के लिए तपस्या करने चला गया। जीवन में इस प्रकार कोई आघात लगने पर मनुष्य का मन त्याग के भाव से परिपूर्ण हो उठता है, उसकी सम्पूर्ण जीवन-धारा ही बदल जाती है तथा वह ईश्वर की आराधना में मनोनियोग करता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि जीवन का उद्देश्य है ईश्वरोपलब्धि। ईश्वरोपलब्धि से तात्पर्य है— अपने अन्तर्निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति करना या दूसरे शब्दों में, बन्धन से मुक्ति। स्वामीजी ने धर्म की परिभाषा करते हुए ज्ञान-कर्म आदि चार मार्गों की बात कही है। हमें उनमें से एक या एकाधिक मार्गों के सहारे अपना अन्तर्निहित देवत्व प्रकट कर मुक्त होने का प्रयास करना होगा। 'मैं' और 'मेरा' का बोध ही बन्धन है। हम अज्ञानवश आत्मा और अनात्मा को एक में मिला डालते हैं और इन दोनों के सम्मिश्रण को 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं। इसी 'मैं-मेरा' बोध तथा अहंकाररूपी बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान आदि चार मार्गों का प्रावधान किया गया है। गीता में भी इन चार रास्तों की बात कही गयी है। इनमें से किसी एक का भी अनुसरण करने पर अहंकार का नाश होता है। इन चारों पथों का उद्देश्य हमारे अहंकार को दूर कर हमें बन्धनमुक्त करना है। सामान्यतः हम एक से अधिक मार्गों का ही अवलम्बन करते हैं। हमारे मन का गठन ही ऐसा है कि एक ही पथ उसके लिए पर्याप्त नहीं होता। भक्ति, ज्ञान, कर्म एवं ध्यान इन भावों के सम्मिश्रण से ही हमारे मन का गठन हुआ है। इनमें से प्रत्येक हमारी प्रकृति में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है। इन सब भावों को एक साथ लेकर ही मुक्तिलाभ के पथ पर चलना श्रेयस्कर है। इसीलिए स्वामीजी ने इनमें से एक, एकाधिक या सभी उपायों द्वारा मुक्तिलाभ की बात कही है।

वर्तमान युग में हम देखते हैं कि लोग धर्म के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और कहते हैं— "ईश्वर नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक सत्यों के समान ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसलिए हम ईश्वर को नहीं मानेंगे। फिर धर्म भी तो एक नहीं, अनेक हैं। और इन विविध धर्मों में भी आपस में विवाद है। अतः कौन सा धर्म सच्चा है, यह भी तो नहीं कहा जा सकता।" तर्क करते हुए वे और भी कहते हैं— "धर्म की कोई जरूरत नहीं, ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। बहुत हुआ तो यह कहा जा सकता है कि धार्मिक व्यक्तियों के माध्यम से एक ही उद्देश्य की सिद्धि होती है और वह यह कि परलोक का भय दिखाकर लोगों को नियंत्रण में रखा जा सकता है, उन्हें अच्छी तरह चलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त धर्म की अन्य कोई उपयोगिता नहीं है।" यह है आधुनिक मानव

का दृष्टिकोण।

अब यदि धर्म का अर्थ अनुभूति या ईश्वरोपलब्धि हो, तब तो यह वैज्ञानिक सत्य की श्रेणी में आएगा। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक सत्य का निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद, जाँच की कसौटी पर खरा उतरने पर ही, उसे प्रमाणित सत्य के रूप में स्वीकृति मिल सकती है। धार्मिक व्यक्ति कहते हैं कि ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि सम्भव है। "क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" स्वामी विवेकानन्द (तब नरेन्द्रनाथ) के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्णदेव ने यही बात कही थी। स्वामीजी ने मानो आधुनिक मानवजाति के प्रतिनिधि के रूप में ही यह प्रश्न किया था। वर्तमान युग के मानव-मन में जो सन्देह है, आधुनिक शिक्षा में शिक्षित तथा पाश्चात्य दर्शन एवं विज्ञान से परिचित स्वामीजी के मन में भी वही सन्देह उठा था। वे ईश्वर के अस्तित्व के बारे में संशयसम्पन्न हुए थे। इस सन्देह को दूर करने के लिए ही वे अपने परिचित प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति से यह प्रश्न किया करते कि क्या आपने ईश्वर को देखा है। परन्तु कहीं भी उन्हें इस प्रश्न का सीधा उत्तर न मिला। अन्त में श्रीरामकृष्णदेव से यही प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया था—"हाँ ! ईश्वर को देखा है, उनके साथ बातें की हैं और तू यदि चाहे तो तुझे भी दिखा सकता हूँ।" श्रीरामकृष्णदेव ने इतनी दृढ़ता के साथ ये बातें कही थीं कि स्वामीजी का ईश्वर के अस्तित्व के बारे में संदेह चला गया। श्रीरामकृष्णदेव के स्पर्श से अतिचेतना स्तर पर पहुँचकर उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों का सत्यापन किया।

अब विज्ञानवादी यह कह सकते हैं कि तर्क के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व नहीं प्रमाणित किया जा सकता। हाँ, यह सही है कि ऐसा नहीं किया जा सकता; क्योंकि तर्क सीमित है— वह हमारे चेतन स्तर की सीमा के भीतर ही क्रियाशील है। तर्क में असीम को जानने या प्रमाणित करने की क्षमता नहीं है। मन की सहायता से हम असीम की थाह नहीं पा सकते। तर्क-युक्ति तो मन की एक वृत्ति मात्र है, अतः उसके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना असम्भव है। यदि हम ईश्वर को जान ले सकें—उसे विचार की सीमा में ले आ सकें, तब तो वह ईश्वर नहीं रह जाएगा। तब वह असीम नहीं रहेगा, बल्कि हमारी तरह सीमाबद्ध हो जाएगा। जो कुछ हमारी विचार-बुद्धि के क्षेत्र में आता है, वह सब ससीम है। अतः मन या युक्ति के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना सम्भव नहीं। यदि हम युक्ति की सहायता से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तो कोई दूसरा हमसे भी ज्यादा बुद्धिमान् व्यक्ति युक्ति के सहारे ही उसका खण्डन भी कर सकता है। अतएव प्रत्यक्ष अनुभूति ही ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है। अपनी पूर्णसत्ता के द्वारा अतीन्द्रिय स्तर पर हम जो साक्षात्कार करते हैं, वह मन की पहुँच से परे है। हमारा मन पूर्णसत्ता का एक अंश मात्र है। अतः पूर्णसत्ता के द्वारा हम जो अतिचेतन (समाधि) की अनुभूति करते हैं, उसे चेतन स्तर की युक्तियों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि वह युक्ति-विरोधी नहीं होता, क्योंकि युक्ति-रूपी वृत्ति से समन्वित हमारा यह मन हमारी पूर्णसत्ता में ही अन्तर्भुक्त है। सत्योपलब्धि का झूठा दावा करके कोई हमें धोखा भी नहीं दे सकता, क्योंकि उसने सत्यानुभूति की है या नहीं, यह उसके आचरण से ही प्रमाणित हो जाएगा। वह मनुष्य मात्र से प्रेम करेगा। धार्मिक अनुभूतियाँ अतीन्द्रिय तथा आत्मपरक होती हैं, वस्तुपरक नहीं। प्रश्न उठ सकता है कि अमुक ने जो सत्योपलब्धि की है, उसका प्रमाण क्या है ? उसके जीवन एवं बाह्य आचरण के द्वारा ही वह प्रमाण प्रकाशित होगा। उसका आचरण देखकर ही हम समझ जाएँगे कि उसे ईश्वरोपलब्धि हुई है अथवा

नहीं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं अतीन्द्रिय स्तर पर पहुँचकर ही ईश्वर को प्रत्यक्ष किया जा सकता है, और वही उसके अस्तित्व का प्रमाण है। अब यदि विज्ञान के अनुयायी अतीन्द्रिय उपलब्धि को ही न मानना चाहें, तो यह अन्याय होगा। यदि एक वैज्ञानिक से विज्ञान के किसी सत्य का प्रमाण माँगा जाय, तो वह कहेगा कि मेरी प्रयोगशाला में आकर, मैंने जिस प्रकार प्रयोग करके देखा है, वैसे ही तुम स्वयं भी परीक्षा करके देख लो कि मैं जो कहता हूँ वह सत्य है या नहीं। एक अतीन्द्रिय-अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति भी यही बात कह सकता है कि मेरे पास आओ, मैं जैसे चलता हूँ वैसे ही चलो, संयमपूर्ण जीवन बिताओ, मन को नियंत्रित एवं एकाग्र करो, तभी तुम सत्य की उपलब्धि कर सकोगे। दोनों ही क्षेत्रों में एक ही प्रकार का उत्तर मिलता है। हम सत्यापन करके देखने को तैयार हैं नहीं, फिर भी कहते फिरेंगे कि सब बेकार की बातें हैं।

भगवान् हैं—यह बात पूर्णरूपेण सत्य है। महापुरुषों ने उनका साक्षात्कार किया है। धर्म हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। धर्म को छोड़ हम कुछ भी नहीं कर सकते। अतः जीवन के चरम लक्ष्य—परमसत्य—की उपलब्धि के लिए हममें से प्रत्येक को कुछ न कुछ करना ही होगा। प्राचीनकाल में हमारे जीवन का आदर्श था—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग को प्राप्त करना। मोक्ष परम आदर्श था तथा धर्म अर्थ और काम का स्थान उससे नीचे था। अपने चरम लक्ष्य ईश्वरोपलब्धि को न भूलते हुए, कुछ भोग तथा एक सीमा तक धनसंचय का भी विधान दिया गया था। परन्तु आजकल हम लोग उस आदर्श को विस्मृत कर, येन-केन-प्रकारेण भोग और धनसंचय के पथ पर बेतहाशा दौड़ रहे हैं। पृथ्वी पर सर्वत्र यही आधुनिक धर्म हो चला है। यह बात हमने भुला दी है कि ईश्वरोपलब्धि ही जीवन का मूल आदर्श है और यह कि इसके लिए हमें प्रतिदिन अपना कुछ समय ईश्वर आराधना के लिए देना होगा। हम भगवान् से दूर चले आये हैं, इसीलिए आज जगत् में इतनी अव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है।

इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए हमें भगवान् को पुनः लाकर अपने जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करना होगा। चाहे जैसे भी हो, हमें अपने अन्तर्निहित देवत्व के विकास के निमित्त नियमित साधना करनी ही होगी।

भक्ति के द्वारा इन्द्रियाँ अपने आप वश में आ जाती हैं, बड़ी सरलता से उनका संयम हो जाता है। ईश्वर के प्रति प्रेम जितना अधिक बढ़ेगा, शरीर-सुख भोगने की इच्छा उतनी ही घटती जाएगी। जिस दिन घर में सन्तान की मृत्यु हो जाती है, उस दिन क्या पति-पत्नी का मन देह-सुख की ओर जा सकता है?

श्रीरामकृष्ण

धर्म और विज्ञान

स्वामी आत्मानन्द

[श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम छपरा (बिहार) में १०-११-८८ से १२-११-८८ तक आयोजित त्रिदिवसीय धर्म सभा में दिनांक १२-११-८८ को ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द जी महाराज, तत्कालीन सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, मध्य प्रदेश ने 'धर्म और विज्ञान' विषय पर जो व्याख्यान दिया था उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। टेप रेकॉर्ड से उस व्याख्यान का अनुलेखन डॉ० केदार नाथ लाभ और सम्पादन स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद ने किया है। —सं०]

आज प्रातःकाल "धर्म और विज्ञान" चिन्तन का विषय रखा गया है। अध्यक्ष महोदय ने अपने प्रास्ताविक भाषण में इन दोनों विषयों की ओर संकेत किया है और कहा है कि प्राचीन भारत में धर्म और विज्ञान में विरोध नहीं था। यह भी उन्होंने कहा है कि पुराकाल में भारत में विज्ञान के क्षेत्र में प्रभूत उन्नति देखी जाती है। यह बिल्कुल सही बात है। १२ वीं शताब्दी तक हम यही बात पाते हैं कि भारत हर क्षेत्र में अग्रणी था। यहाँ तक कि जिसको हम न्यूटन के द्वारा आविष्कृत गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कहते हैं, वह भी न्यूटन से पाँच सौ साल पहले भारत के मनीषी, भाष्कराचार्य, के द्वारा उद्घाटित हुआ था। ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर और भास्कराचार्य—ये गणित और विज्ञान के क्षेत्र के बड़े मनीषी रहे हैं। भाष्कराचार्य १२ वीं शताब्दी में हुए थे। उनका 'लीलावती बीजगणित' अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने जो कुछ भी चिन्तन किया, लिखा और आविष्कृत किया, वह सारा का सारा 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ में हमें प्राप्त होता है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा यह ग्रन्थ तीन जिल्दों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। जब हम उसे पढ़ते हैं, तब दिखाई देता है कि आज से आठ सौ साल पहले विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने कितनी उन्नति की थी। भास्कराचार्य एक स्थान पर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

> आकृष्टिशक्तिश्च महीतया यत्
> खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
> आकृष्यते तत् पततीव भाति
> समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

—अर्थात् यह पृथ्वी अपनी आकर्षण-शक्ति से आकाश में स्थित पदार्थों को सतत अपने केन्द्र की ओर खींच रही है। उसका यह जो आकर्षण करना है, वही ऐसा लगता है कि पदार्थ नीचे गिर सा-रहा है। जहाँ सब कुछ सब ओर समान है, वहाँ पर कौन किसमें गिरे?

अब इससे बढ़कर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की क्या व्याख्या हो सकती है? हम पढ़ते हैं कि न्यूटन ने १७ वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को आविष्कृत किया, पर 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ बतलाता है कि भास्कराचार्य ने न्यूटन से ५०० साल पहले ही इसे खोज लिया था। फिर, 'चलन कलन' (Differential Calculus) के मूल सूत्र भी हमें 'सिद्धान्तशिरोमणि' में प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह कि यदि हम उन सूत्रों को लेकर 'चलन-कलन' विद्या का विकास किया होता, तो (Differential

Calculus) की भारतीय परिपाटी हमारे पास होती, जो आज की पश्चिमी परिपाटी से भिन्न होती।

जो हो, भारत में इन विद्याओं का बहुत विकास हुआ था। जहाँ धर्म भी विकसित था और विज्ञान भी। भारत में धर्म और विज्ञान को लेकर कोई झगड़ा नहीं था, क्योंकि धर्म हमरे भीतर हमारे रक्त में, हमारी नस-नस में व्याप्त था और कहीं ऐसा नहीं लगता था कि विज्ञान और धर्म में टकराव है।

यह जो हम धर्म और विज्ञान में झगड़े की बात सुनते हैं, वह यूरोप की देन है। आप जानते हैं कि जब विज्ञान की रोशनी यूरोप में फैली, तब वहाँ प्रचलित ईसाई धर्म के नेताओं में खलबली शुरू हो गयी और उन्होंने नारा दिया—Religion in danger (धर्म खतरे में है)। कारण यह है कि विज्ञान किसी बात को किसी के कहने मात्र से मान नहीं लेता। उसकी प्रणाली परीक्षण की है। कोई कितना भी बड़ा वैज्ञानिक क्यों न हो, उसके मात्र यह कहने से कि मैंने अमुक प्रयोग सिद्ध किया है, दूसरे वैज्ञानिक उसे मानेंगे नहीं, जब तक कि वे स्वयं उसे अपने तईं सिद्ध करके नहीं देख लेते। किन्तु धर्म के क्षेत्र में सामान्यतः हमारी मान्यता यह है कि धर्म मानने पर जोर देता है; कहता है कि धर्मग्रन्थ में ऐसा लिखा है, इसलिए तुम्हें इसे मान लेना चाहिए। इस प्रकार धर्म और विज्ञान दोनों की प्रणालियाँ अलग-अलग हैं। धर्म की प्रणाली विश्वास की है, जबकि विज्ञान की प्रणाली प्रयोग की। अब चूँकि ये दोनों प्रणालियाँ भिन्न हैं, इसलिए हमें लगता है कि धर्म और विज्ञान में विरोध हो सकता है। और यूरोप में यह विरोध हुआ भी। किन्तु भारत में पुराकाल में, अभी की बात छोड़ दीजिए, धर्म की प्रणाली भी प्रयोगात्मक थी। हम लोग धर्म के क्षेत्र में विश्वास इसलिए नहीं करते थे कि किसी मनीषी ने कहा है, अपितु हम उसे अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करते थे, अपने जीवन की प्रयोगशाला में उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे; और जब वह सिद्ध हो जाता, तब उस पर विश्वास करते थे। इसीलिए हम भारत में देखते हैं कि धर्म इतना जाग्रत बना रहा।

जब तक धर्म के क्षेत्र में भी प्रयोग न हो, तब तक वह केवल अन्धविश्वास और कुसंस्कार का स्तूप मात्र बना रहेगा, जैसा कि आज हमें दिखाई देता है। एक काल ऐसा आया, जब हमने धर्म के क्षेत्र में प्रयोग करना बन्द कर दिया, हमने केवल बातों को मानना शुरू कर दिया। इससे हमारे देश में सारी गड़बड़ी शुरू हो गयी। जब तक कोई प्रवाह बहता रहता है, जब तक उसका जल स्वच्छ निर्मल होता है, प्राणदायी होता है। पर यदि उसका बहना बन्द हो जाय, तो भले ही ऐसा लगेगा कि जल बहुत इकट्ठा हो गया, पर उस इकट्ठे जल में धीरे-धीरे सड़ाँध पैदा होने लगेगी और वह लोगों के लिए हानिकारक हो जाएगा। इसी प्रकार जब तक चिन्तन का प्रवाह बहता रहता है, तब तक वह प्राणवन्त रहता है, पर जब मानने की परम्परा आ जाती है, जब कहा जाता है कि विश्वास कर लो, तब मानो हम चिन्तन-प्रवाह को रुद्ध कर देते हैं, चिन्तन के दरवाजे बन्द कर देते हैं, हम जो देखते हैं उस पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाते केवल स्वीकार कर लेते हैं। आज इसी प्रकार का स्वीकरण हमारे वैचारिक जीवन में सड़ाँध पैदा कर रहा है। भारत में यह जो ७००-८०० साल का गुलामी का काल रहा है, वह चिन्तन के क्षेत्र में सड़ाँध का काल रहा है। फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में जो तेजस्विता होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पायी।

आज विज्ञान इतना तेजस्वी क्यों है ?—यह प्रश्न हमारे मन में उठता है। आज विज्ञान का हर अंग पुष्ट है। कारण यह है कि उसके हर अंग में रिसर्च चली हुई है, खोज चली हुई है, गवेषणा चली हुई है, अनुसंधान चला हुआ है। विज्ञान का कोई भी छोटा सा अंग ले लें, वहाँ पर सतत अनुसन्धान की प्रक्रिया चली है। इस अनु-

सन्धान के बल पर विज्ञान का वह अंग पुष्ट बना रहता है। मान लिजिए विज्ञान के एक क्षेत्र में किसी वैज्ञानिक ने घोषणा कर दी कि मैंने अमुक तत्त्व प्राप्त किया है; तो क्या दूसरा वैज्ञानिक उसे मान लेगा ? जब तक वह उसे परीक्षण से अपने तई सिद्ध नहीं कर लेगा, तब तक विश्वास नहीं करेगा। अब यह जो दूसरे वैज्ञानिक ने उसे परीक्षण से सिद्ध कर लिया यह मानो उस अंग का पोषण हो गया। तो, विज्ञान का हर अंग आज परीक्षणों और प्रयोगों के कारण पुष्ट है किन्तु खेद की बात है कि धर्म का अंग पुष्ट नहीं हो पा रहा है, क्योंकि वहाँ पर अनुसन्धान की प्रक्रिया बन्द हो गयी है।

आज से आठ सौ साल पहले हमारे यहाँ धर्म के क्षेत्र में भी मानने की यह परम्परा नहीं थी। हम कहते थे, ठीक है मनु ने कहा है, हम इस पर विचार करेंगे। आखिर मनु ने तो बहुत सी बातें कही हैं! हम मनु की सभी बातें तो नहीं मानते हैं। आज जब मनुस्मृति पढ़ते हैं तो देखते हैं कि मनु ने नियोग-प्रथा की वकालत की है। आज क्या नियोग-प्रथा समाज में विद्यमान है? हमने ही उस प्रथा को निकालकर फेंक दिया है। यदि मनुस्मृति को आज भी हम कारगर मानते हैं, तो उसमें जो कुछ लिखा है, उसमें काट छाँट क्यों करते हैं? हमें जो अपने अनुकूल लगता है, उसे तो ग्रहण कर लें और जो अनुकूल नहीं है, उसे त्याग दें—यह तो किसी ग्रन्थ को स्वीकार करने का तरीका नहीं है। नियोग-प्रथा तो मैंने एक उदाहरण के रूप में आपके समक्ष रखा। तो, यदि हमने मनु महाराज की कुछ बातों को स्वीकार किया और कुछ को नहीं, तो यह मनुस्मृति का स्वीकरण नहीं है। यह वैज्ञानिक तर्क है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस समय चिन्तनशील मनीषी या जिस समय वह धर्म के क्षेत्र में भी सतत अनुसन्धान करता था कि उस समय हमारा धर्म प्राणवन्त बना हुआ था। तब भारत में धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं था।

दोनों का यह विरोध तो यूरोप से आयातित है। वह पश्चिम की देन है। वहाँ दोनों में जमकर लड़ाई हुई। हम गैलीलियो की कथा पढ़ते हैं। उसने अपनी खोज के बल पर यह आविष्कार किया कि पृथ्वी सूरज के चारो ओर घूमती है, जब कि ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल में यह लिखा है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। बस क्या था, धर्म के नेताओं ने जाकर सम्राट के पास शिकायत की कि गैलीलियो धर्मद्रोही है। गैलीलियो के अपराध पर विचार करने के लिए राजसभा बुलायी गयी। गैलीलियो को हाजिर होने का हुक्म दिया गया। उसके मित्रों ने कहा—'देखो, ये जो धर्मध्वजी लोग हैं ये बड़े जालिम हैं। अपने को धार्मिक नेता तो कहते हैं, पर हैं बड़े दुष्ट, बड़े कट्टर। वे तुम्हें प्राणदण्ड देने की माँग करेंगे। तुम सोच विचार से काम लेना।"

गैलीलियो ने संकेत ले लिया। राजदरवार में उस पर अभियोग लगाया गया कि यह धर्मद्रोही है। राजा ने उससे कहा, "तुम धर्म का द्रोह करते हो?" गैलीलियो बोला, "मैंने भला कब धर्म द्रोह किया है?"

"तुम तो ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करते हो जो धर्म के सिद्धान्त के खिलाफ है।"—राजा ने शिकायत की।

मैं" आप की बात समझ नहीं पाया, सम्राट्!"—गैलीलियो ने उत्तर में कहा।

"क्यों, तुम यह सिद्धान्त बताते हो न कि पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है? और यह तो धर्म का द्रोह करना है, क्योंकि धर्म की पुस्तक में लिखा है कि सूरज पृथ्वी की परिक्रमा करता है। बोलो, तुम्हें कुछ कहना है?"

"आप जो कहना चाहें, वही मेरा भी कहना है। आपसे उल्टी बात मैं कैसे कह सकता हूँ?"—गैलीलियो बोला।

"तो तुम जानते हो कि सूरज ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है ?"—सम्राट ने पूछा।

गैलीलियो ने कहा, "जैसा आप कहें, वह मानने के लिए मैं बाध्य हूँ !"

"तो ठीक है, तुम इस दस्तावेज पर दस्तखत कर दो।" राजा ने हुक्म दिया।

और गैलीलियो ने हस्ताक्षर कर दिये। उसमें लिखा था—'मैं, अमुक का पुत्र गैलीलियो, आज अमुक तिथि को यह घोषणा करता हूँ कि सूरज ही पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता है और जो मैं कहा करता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, वह सही नहीं है।'

गैलीलियो प्राण दण्ड से छूट गया। उसके विरोधियों ने उस पर व्यंग्य वाण चलाये—"क्यों, बहुत शेखी मारते थे न ! अब क्या हुआ ? आखिर तुमने धर्म के द्वारा घोषित सिद्धान्त पर ही हस्ताक्षर कर दिये न !" गैलीलियो बोला, "मेरे हस्ताक्षर करने से क्या होता है ? क्या उससे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करना बन्द कर देगी ? होगा तो वही जो सत्य है, मेरे हस्ताक्षर करने से क्या आता जाता है ?" उसके विरोधियों ने यह बात भी राजा के पास पहुँचा दी और गैलीलियो को प्राण दण्ड दिया गया। यहाँ से धर्म और विज्ञान की तकरार शुरू होती है।

होता यह है कि जब कोई धर्म तर्कशून्य हो जाता है, तो वह कट्टर संकीर्ण हो जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि का तिरस्कार करता है। वैज्ञानिक दृष्टि व्यक्ति या सम्प्रदाय-निरपेक्ष होती है। वह हमारे समक्ष सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करती है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि ने धर्मपुस्तक में लिखी किसी बात को काटा, तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि विज्ञान धर्म का विरोध कर रहा है। हमें विज्ञान की उस दृष्टि को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। जिस धर्म में विचार, चिन्तन, अनुसन्धान, गवेषणा और अनुभूति को महत्त्व दिया जाता है, वह कभी भी विज्ञान की प्रणाली से विरोध नहीं करेगा। वेदान्त एक ऐसा ही धर्म है, वह वैज्ञानिक प्रक्रिया का सामना करने में समर्थ है। यही कारण है कि विश्व के सभी देशों के विचारशील लोग वेदान्त में भविष्य की आशा देख पा रहे हैं; क्योंकि वेदान्त के सिद्धान्त वैज्ञानिक मापदण्ड पर खरे उतर रहे हैं और विश्व की इस अनबूझ पहेली को बूझने के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि जैसे विज्ञान सत्य की खोज है, वेदान्त भी वैसे ही सत्य की खोज ही है। पर हाँ, दोनों की प्रणालियाँ भिन्न हैं। विज्ञान बाहर से, इन्द्रिय ग्राह्य जगत् में सत्य की खोज करता है, जबकि वेदान्त भीतर से, मन के भीतर उस सत्य को पाने का प्रयास करता है। पहले भारत के ऋषियों ने भी सत्य को बाहर खोजने की बहुत कोशिशें कीं, पर सत्य मिला नहीं। हाँ, इस प्रयास में विज्ञान की अनेक विधाओं का आविष्कार अवश्य हो गया। तब ऋषियों ने भीतर सत्य की खोज शुरू की। उन्होंने देखा कि बहिर्मुखी होने से, इन्द्रियों को बाहर की ओर ले जाने से सत्य मिलता नहीं है, इसलिए वे इन्द्रियों को भीतर की ओर ले गये। इस प्रणाली का सुन्दर वर्णन हमें कठोपनिषद् (२/१/१) में मिलता है—

> पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्
> पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
> आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

'स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर हिंसित कर दिया है, इसलिए जीव बाहर की ओर (बाह्य विषयों को) देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। पर कोई धीर पुरुष था, जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को (बाहर जाने से) रोक कर प्रत्यगात्मा को देख लिया।

इस एक श्लोक में साधना और सिद्धि के सभी

सूत्र दें दिये गये हैं। यह आत्मानुशीलन की प्रणाली है। इन्द्रियाँ स्वभाव से बाहर की ओर जाती हैं (पराक्) और वह सत्य भीतर गया हुआ ('प्रत्यक्') है। अतएव सत्य का साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़ना होगा। सत्य के साक्षात्कार से क्या होगा ?—अमरत्व प्राप्त होगा। यह भारत की प्रणाली रही। इसीलिए हमारे देश में धर्म और विज्ञान में झगड़ा नहीं हुआ, क्योंकि हमारे मनीषियों ने दोनों में टकराव का कोई कारण नहीं देखा। उन्होंने अनुभव किया कि एक सर्वव्यापी, सर्वानुस्यूत शाश्वत सत्ता है, जिसे अनन्त नियमों का पुंज कहा सकता है। बुद्ध ने इसे 'धम्म' (धर्म, LAW) कहकर पुकारा। जब यह अनन्त नियमपुंज अपने को बाह्य संसार के धरातल पर अभिव्यक्त करता है, ये विज्ञान के नियम कहलाते हैं और इन्हें विज्ञान की प्रणाली से जाना जाता है। और जब वही नियमपुंज अपने को मानसिक संसार के धरातल पर अभिव्यक्त करता है, तो वे अध्यात्म के नियम कहलाते हैं और उन्हें जिस प्रणाली के द्वारा जाना जाता है, उसे धर्म या अध्यात्म की प्रणाली कहते हैं। इस प्रकार हमारे चिन्तकों और मनीषियों ने इन दोनों प्रणालियों में कोई विरोध न देखा, अपितु दोनों को एक दूसरे का परिपूरक माना।

पर पश्चिमी देशों के साथ यह बात नहीं थी। वहाँ धर्म के क्षेत्र में स्वतन्त्र और उन्मुक्त चिन्तन को स्थान नहीं था, इसलिए विज्ञान को वहाँ पर धर्म का वैरी माना जाने लगा। बात यह है कि धर्म ईश्वर को मानने पर जोर देता है और विज्ञान ऐसी किसी सत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं है, जो परीक्षण से सिद्ध न होती हो। पहले तो वहाँ धर्म विज्ञान पर हावी था, जैसा कि गैलीलियो के साथ हुए व्यवहार से हम समझ सकते हैं, पर धीरे-धीरे विज्ञान शक्ति संचित करता गया, उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी और फिर वह समय भी आया, जब विज्ञान पूरी तरह धर्म पर हावी हो गया। आज सर्वत्र विज्ञान का ही बोल बाला है। पश्चिमी देशों में धर्म की आवाज अरण्य रोदन के समान है। तथापि वहाँ भी लोग, चोटी के बहुत से वैज्ञानिक लोग वेदान्त में भविष्य की आशा देखते हैं, विज्ञान में या अपने यहाँ प्रचलित धर्म में नहीं। इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि वेदान्त किसी सम्प्रदाय का धर्म नहीं है, वह मानव मात्र का धर्म है; वेदान्त विज्ञान की प्रक्रिया को खण्डित नहीं करता, बल्कि अपनी पुष्टि के लिए भी वैज्ञानिक प्रक्रिया को समर्थन देता है; वह मानव जीवन की उन गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में सार्थक पहल करता है, जहाँ विज्ञान घुटने टेक देता है। वेदान्त के सम्बन्ध में सुविख्यात प्राच्यविद्या के पारंगत विद्वान मैक्सपूलर का कथन मननीय है। वे अपने 'वेदान्त फिलॉसफी' नामक ग्रन्थ में (पृ० ५) कहते हैं—

'शॉपेनहावर ने यह जो कहा है कि 'दुनिया में उपनिषदों के अध्ययन के अलावा और कोई अध्ययन नहीं है, जो वैसा उपादेय और उस प्रकार उदात्त हो, वह मेरे जीवन की सान्त्वना रहा है और मृत्यु की भी सान्त्वना रहेगा''—

उनके इस कथन को यदि किसी समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं अपने सारे जीवन भर जो विभिन्न दर्शनों और बहुतेरे धर्मों के अध्ययन में लगा रहा और उससे मुझे जो अनुभव हुए उन अनुभवों के बल पर मैं बड़ी खुशी से यह समर्थन दे सकता हूँ।''

जैसा हमने कहा कि पाश्चात्य देशों में विज्ञान धर्म पर हावी हो गया। १८ वीं शताब्दी में विज्ञान पूरी तरह धर्म पर अपना अधिकार जमा चुका था। १७ वीं शताब्दी में न्यूटन आये। उन्होंने बहुत सी खोजें कीं। उन्होंने विभिन्न गुणों का पता लगाया। यही नहीं, ग्रहों के बीच आपस में दूरी कितनी है तथा उनकी गति क्या है, यह सब उन्होंने पेश की। इसके कारण वैज्ञानिक ऐसा सोचने लगे कि बस

अब ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं । वैसे न्यूटन स्वयं आस्तिक थे । ईश्वर और धर्म में उनकी आस्था थी किन्तु उनके बाद के जो वैज्ञानिक आये वे घोर नास्तिक थे । उन्होंने ईश्वर की सत्ता पूरी तरह नकार दी । उन्होंने ऐसा माना कि हम दुनिया को गणित के समीकरण में बाँधकर रख सकते हैं । वह निश्चितवाद का युग (Deterministic age) था । वैज्ञानिक तब यही मानता था कि हम संसार में घटने वाली किसी भी घटना को गणित के फार्मूलों में बाँधकर रख सकते हैं । इस पर पहला प्रहार तब होता है जब हिजनबर्ग नाम के वैज्ञानिक अपने अनिश्चतवाद के सिद्धान्त (Principle of inedetrminacy) का प्रतिपादन करते हैं । और तब विज्ञान के क्षेत्र में एक तहलका सा मच जाता है । इसके बाद विज्ञान का स्वर कुछ नम्र होने लगता है ।

जब हम विज्ञान के इतिहास का अवलोकन करते हैं तो देखते हैं कि विज्ञान की परम्परा आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई थी । वैज्ञानिकों ने पदार्थ को लेकर तोड़ना प्रारम्भ किया और उसे तब तक तोड़ा जब तक उसे और विभाजित करना सम्भव नहीं हुआ । इसका उन्होंने अणु (Molecule) नाम दिया । उन्होंने सोच लिया कि तत्त्व (Element) की इससे छोटी इकाई और हो नहीं सकती । पर उनकी यह धारणा खण्डित होती है । लगभग ४०० से ४७० वर्ष ईस्वी पूर्व ल्यूसिप्स तथा उनके शिष्य डिमोक्रिटस आते हैं और वे अणु का विभाजन कर यह सिद्ध करते हैं कि अणु अविभाज्य नहीं वरन प्रत्येक अणु एक अथवा कई परमाणुओं से बना है तथा परमाणुओं के बीच में खाली स्थान है । प्रत्येक परमाणु ठोस है तथा यह तत्त्व (Element) का अविभाज्य अंग है । पदार्थ में परिवर्त्तन उसके अन्दर निहित परमाणुओं की गति अथवा स्थिति में हुए परिवर्त्तन के फलस्वरूप होती है । सारा दृश्यमान जगत् परमाणुओं से बना है तथा संसार में परमाणुओं की संख्या निश्चित है । प्रकृति का एक शाश्वत, सर्वव्यापी, विश्वजनीन सिद्धान्त ही परमाणुओं की गति को संचालित करता है । प्राणियों में हम जो चेतना पाते है वह भी परमाणुओं के आकस्मिक संघात के फलस्वरूप है । मनुष्य चूंकि प्रकृति का एक अंश है अतः वह भी उन्हीं नियमों द्वारा संचालित होता है ।

न्यूटन ने १६८७ में अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपिया' (Principia) तथा १७०४ में 'आप्टिक्स' (Optics, में न्यूनाधिक इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । पर उन्होंने ईश्वर के अस्तीत्व को भी स्वीकार किया । उनके अनुसार ईश्वर ने परमाणुओं की सृष्टि की तथा उनमें शक्ति का संचार किया जिसके फलस्वरूप जगत की अभिव्यक्ति हुई । न्यूटन के अनुसार ये परमाणु इस प्रकार संघटित होते हैं कि उससे चेतना का उदय होता है । चेतना का विकास बाद की अवस्था है तथा मनुष्य इस विकास का परिणाम है । अतः मनुष्य इन नियमों के द्वारा आबद्ध है । उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं, वह मात्र एक गुलाम है ।

बाद के जो वैज्ञानिक आते हैं वे ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह नकार देते हैं । उनके अनुसार जगत की जो भी प्रक्रिया घट रही है वह परमाणुओं के संघात के फलस्वरूप है तथा यह कार्य-कारण शृंखला के द्वारा परिचालित हो रही है जिसमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं । यह परमाणु सिद्धान्त ही 'Mechanical theory of the universe' के नाम से जाना जाता है । संसार की सृष्टि में चेतना (Conciousness) को कोई स्थान नहीं है क्योंकि चेतना तो स्वयं 'यांत्रिक प्रक्रिया' (Mechanical process) का परिणाम है । इस सिद्धान्त ने वैज्ञानिकों को बड़ा उद्धत बना दिया ।

पर इस सिद्धान्त को भी १८ वीं सदी के अन्त में गहरी चोट लगी जब १८९९ में थॉम्प्सन, ने कैथोड रेज का आविष्कार किया । इसके माध्यम से उन्होंने सिद्ध किया कि परमाणु भी ठोस नहीं

वरन वह इलेक्ट्रोन (Electron) तथ प्रोटोन (Proton) जैसे ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत कणों से युक्त है तथा न केवल परमाणु को नष्ट ही किया जा सकता है वरन नये परमाणु की सृष्टि भी की जा सकती है। २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लार्ड रुदरफोल्ड ने इसी सिद्धान्त के आधार पर शीशे के परमाणु (lead atom) से स्वर्ण परमाणु (gold atom) बनाने में सफलता अर्जित की।

इस तरह पिछले २५०० वर्षों से चला आ रहा यह सिद्धान्त कि परमाणु अविभाज्य (indestructible) है, ध्वस्त हो जाता है। यह सिद्ध होता है कि परमाणु को 'इलेक्ट्रान' और 'प्रोटोन' में विभाजित किया जा सकता है तथा यह संसार जड़ भौतिक परमाणुओं का खेल नहीं किन्तु यह विद्युत तरंगों की उपज है जो कि जड़ नहीं। इसे Electrical theory of the matter के नाम से जाना गया।

यहाँ से मानो electronic age की शुरुआत होती है। तथा अब वैज्ञानिक यह जानने का प्रयास करते हैं कि जिस प्रकार Molecule (अणु) के भीतर atom (परमाणु) छिपा था उसी प्रकार इस electron के भीतर क्या छिपा है। वैज्ञानिकों में हिजनवर्ग सामने आते हैं और वे इस अनुसन्धान को आगे बढ़ाते हैं। उसमें वे बड़ी दिक्कत महसूस करते हैं। दिक्कत यह कि इलेक्ट्रान बड़ी तेजी से भागता है, उसमें बड़ी गति है। हिजनबर्ग के मन में आया कि जब तक हम इलेक्ट्रोन को पकड़ नहीं लेते हैं तब तक कैसे जान सकते हैं कि उसके भीतर क्या छिपा है ? उन्होंने इलेक्ट्रान को पकड़ने की कोशिश की। अब किसी गतिशील वस्तु को पकड़ने का उपाय क्या है ? उसके लिए दो बातों को जानना होगा। एक यह कि वह वस्तु कितनी गति से भाग रही है तथा दूसरा यह कि वह किस दिशा में भाग रही है। यदि मुझे दिशा और गति दोनों का ज्ञान हो जाय तो बहुत सम्भव है कि मैं उस वस्तु को पकड़ने की चेष्टा कर सकता हूँ। तो हिजनवर्ग ने यह जानने की चेष्टा की कि इलेक्ट्रोन किस दिशा में भागता है और किस गति से भागता है इस प्रयास में वह दुर्घटना घटती है जिससे हिजनवर्ग को एक नया सिद्धान्त घोषित करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जिसका नाम है— Heisenberg indeterminacy principle (हिजनवर्ग के अनिश्चितवाद का सिद्धान्त)। वह क्या था ? वे देखते हैं कि जब वे इलेक्ट्रान की गति को पकड़ने की चेष्टा करते हैं तो उसकी गति लुप्त हो जाती है पर दिशा बनी रहती है और जब दिशा को पकड़ने का प्रयास करते हैं तो दिशा लुप्त हो जाती है और गति बनी रहती है। यह बड़ी विचित्र बात जो इलेक्ट्रान के साथ आती है। वे कुछ समझ नहीं पाते हैं कि आखिर इलेक्ट्रान इस तरह behave (कार्य) क्यों करता है। फिर वे देखते हैं कि कभी इलेक्ट्रान Particle (कण) के समान behave (कार्य) करता है तो कभी Wave (तरंग) के समान। कभी उसका गुण कणात्मक होता है तो कभी तरंगात्मक। ऐसा क्यों होता है, यह समझाने में वे असमर्थ होते हैं। इसलिए वे उसका नाम देते हैं wavicle। तो पहली बार विज्ञान के क्षेत्र में casual relation (कार्य कारण नियम) जिसको हम 'निमित्त' कहते हैं। खण्डित होता है। इससे विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी खलबली मचती है। फिर बड़े-बड़े वैज्ञानिक आये जेम्सजीन्स, मैक्सप्लांक तथा आइन्स्टीन आदि जिन्होंने इस खण्डित कार्य कारण की कड़ी को जोड़ने का प्रयास किया पर वह आज तक जुड़ नहीं पायी। हिजनवर्ग द्वारा घोषित Principle of indeterminacy (अनिश्चितवाद का सिद्धान्त) अभी तक कायम है। तो यह आज के विज्ञान की स्थिति है। जब से यह दुर्घटना घटी है तब से विज्ञान के क्षेत्र में नरमाई आयी है। उसका औद्धत्य चला गया है। जो वैज्ञानिक कहता था कि मैं सारी दुनिया को गणित के आँकड़े में बाँधकर रख दूँगा, आज वह यह कहने का साहस नहीं कर पा रहा है। आज के चोटी के वैज्ञानिक जिनमें आइन्स्टीन भी शामिल हैं, उस सत्ता में विश्वास

करते हैं जिसे हम ईश्वर कहकर पुकारते हैं। वह एक अवान्तर विषय है। पर मैं केवल यही बताना चाहता था कि आज के चोटी के वैज्ञानिक ईश्वर और विज्ञान की परम्परा में विरोध नहीं देख रहे हैं। पर वे इतना मानते हैं कि जो ईसाई धर्म की प्रक्रिया है उसके माध्यम से वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को नहीं समझा जा सकता है। साथ ही वे वेदान्त का हवाला देना नहीं भूलते हैं। जैसे यदि आप एडिंगटन, जेम्सजीन्स, मैक्सप्लांक तथा श्रॉडिंजर आदि की पुस्तकों को पढ़ें तो उसमें वेदान्त और पातंजलि के योग सूत्र का हवाला पायेंगे।

हिजनवर्ग के 'अनिश्चितवाद के सिद्धान्त' का आविष्कार होने के बाद आइन्स्टीन ने General theory of Relativity' तथा 'Special theory of Relativity' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। बाद में पत्रकारों ने उनसे पूछा, आपने जो Relativity के सिद्धान्त निकाले हैं वह कार्य कारण सिद्धान्त की टूटी हुई कड़ी को समझाने के प्रयास में निकाले हैं न ?" आइन्स्टीन ने कहा, "हाँ, मेरी चेष्टा तो यही रही है कि विज्ञान के क्षेत्र में जो कड़ी टूट गयी है उसे समझाने का प्रयास करूँ। पर मुश्किल है कि वह कड़ी सुलझ नहीं पा रही है।" तात्पर्य यह कि न्यूटन के आने के पूर्व वैज्ञानिकों की जो स्थिति थी, एक अनजान, अदृश्य जगत में परिभ्रमण की, जहाँ उन्हें कुछ नहीं सूझ पा रहा था वैसी ही स्थित वे आइन्स्टीन के आने के बाद अनुभव करने लगे। एक ने अंग्रेजी में एक सुन्दर couplet लिखा --

Nature and nature's law lay hid in night,
God said let Newton be and all was light
But not for long, the Devil howling 'Ho'
'Let Einstein be' restored the statusquo."

—अर्थात् प्रकृति और प्रकृति के नियम रात्रि के अन्धकार में छिपे हुए थे। ईश्वर ने कहा कि न्यूटन आ जाय और सब कुछ प्रकाश से भर गया। पर अधिक समय बीता नहीं कि शैतान चिल्ला उठा कि वह आइन्स्टीन को ले आया है तथा इससे स्थिति पुन. यथावत हो गयी।

आइन्स्टीन का तात्पर्य यह है कि सत्य को विज्ञान के बीच रहकर जानना कठिन है क्योंकि किसी भी तत्व को जानने का जो साधन है वह है हमारा मन। यह प्राथमिक औजार है जिसके सहारे हम जो ज्ञातत्व है, उसे जानते हैं। पर मन की अपनी ही सीमा है। मन के तीन उपादन है—Time, space and causation अर्थात् देश, काल और निमित्त। इसका तात्पर्य यह कि मन इन तीन उपादानों को लाँघ नहीं सकता। मन देश के परे जाकर, काल के परे जाकर तथा कार्य-कारण नियम के परे जाकर विचार नहीं कर सकता। हिजनवर्ग ने जब इलेक्ट्रॉन के पीछे का सत्य जानना चाहा तो देखा कि वहाँ पर कार्य-कारण की परम्परा टूट गयी, और यदि हम इस मन के द्वारा जानना चाहें कि कार्य-कारण नियम के परे क्या है तो यह कैसे जान सकते हैं ? जो मन कार्य-कारण के नियम के घेरे में रहकर काम करता है उसके द्वारा हम उसे कैसे जान सकते हैं जो कार्य-कारण के निमय के परे है। और यदि हमें इस मन के द्वारा जानने का आग्रह ही है तब तो हमें अपने मन को ही लांघना होगा। इसलिए आइन्स्टीन अन्त में कहते हैं—Thus the physics of 20th century sees to be addmitted to the door of metaphysics. अर्थात् '२० वीं शताब्दी का भौतिक विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान के कक्ष में प्रवेश पाना चाहता है।' यह आइन्स्टीन की दृष्टि है।

मैं एक किताब का बहुत हवाला दिया करता हूँ। वह है Lincon Barnnet द्वारा लिखित The universe and Dr. Einstein. इस पुस्तक में उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में शुरू से लेकर जो-जो खोजे हुई हैं उनका वर्णन करते हुए लिखा कि आइन्स्टीन ने क्या-क्या चीजें दीं तथा कहाँ पर आकर (विज्ञान की) गाड़ी रुक गयी। और अगर सत्य का साक्षात्कार

करना है तो हमें क्या करना होगा। वे लिखते हैं—"There is no mystery of the physical world which does not point to a mystery beyond itself. All high roads of intellect, all byways of theory and conjecture lead ultimately to an abyss that human ingenuity can never span." अर्थात्, "भौतिक जगत में ऐसा कोई रहस्य नहीं है जो अपने से परे अन्य रहस्य की ओर इंगित न करता हो। बुद्धि के विस्तृत मार्ग तथा सिद्धान्त और सम्भावनाओं के समस्त रास्ते अन्ततोगत्वा ऐसे अतल गर्त में ले जाते हैं जिसे मानवीय योग्यता माप नहीं सकती।"

लिंकन बार्नेट कहते हैं कि आज विज्ञान के क्षेत्र में समस्याओं का अम्बार खड़ा हो गया है। हम एक समस्या को सुलझाने जाते हैं तो उस प्रयास में कई नयी समस्याएँ आ जाती हैं। अतः इन समस्याओं के सुलझाने के लिए मूलभूत समस्या को हल करना होगा। वह मूल समस्या क्या है? लिंकन बार्नेट लिखते हैं—"Man is his own greatest mystery. He does not understand the vast veiled universe into which he has been cast for the reason that he does not understand himself, Least of all does he understand his noblest and most mysterious quality; the ability to transcend himself and perceive himself in the act of perception." अर्थात् "मनुष्य ही अपना सबसे बड़ा रहस्य है। वह इस विशाल पटावृत जगत को जिसमें कि वह ढकेल दिया गया है, जानने में इसलिए असमर्थ है क्योंकि वह अपने आप को नहीं जानता है और तो और अपने आप को लाँघकर सही मापने में अपने अन्दर दृष्टिपात करने का उसके भीतर जो सामर्थ्य तथा उदात्ततम तथा अत्यन्त रहस्यमय गुण है उसके बारे में भी उसकी समझ बहुत कम है।"

मनुष्य अपने आप को लाँघ जाय और लाँघकर अपने को देखे—यह विज्ञान की भाषा नहीं, यह तो दर्शन और अध्यात्म की भाषा है। तो आज वैज्ञानिकों का चिन्तन जिस दिशा में जा रहा है, वेदान्त का चिन्तन भी ठीक इसी प्रकार का है। जिस उपाय से मनुष्य अपने आप को लाँघने में समर्थ होता है उसे कहते हैं—ध्यान योग। श्वेताश्वतर उपनिषद में एक बहुत सुन्दर बात कही गयी है। वहाँ एक ब्रह्म संगोष्ठी में विचार किया जाता है कि यह संसार क्या है? कहां से उत्पन्न हुआ है? यह ब्रह्म क्या है? यही सब चिन्तन चला हुआ है। तीसरे मंत्र में ब्रह्म को जानने का उपाय बताते हुए कहा गया—

ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्

—उन्होंने उस ब्रह्म तत्त्व को देखा, उसका साक्षात्कार किया जो देश काल निमित्त से परे है। कैसे साक्षात्कार किया?—ध्यान योग के सहारे। अब यह ध्यान योग क्या है उसे समझना चाहिए। सामान्यतः ध्यानयोग कहने से हमको लगता है—मन की एकाग्रता। पर यह ठीक अर्थ नहीं। मन की एकाग्रता तो वैसे भी हो जाती है। जैसे यदि मुझे किसी विषय में रुचि है तो मन उसमें सहज ही एकाग्र हो जायेगा। अगर मुझे शतरंज खेलने में रुचि है तो खेलते समय मन एकाग्र हो जायेगा। एक चित्रकार जब चित्रकारी करता है तो उसके सारे मन, प्राण सब चित्रकारी में डूब जाते हैं। तभी वह बढ़िया चित्र बनाने में समर्थ होता है। एक सितार वादक जैसे रविशंकर जब सितार बजाते हैं तब कितने एकाग्र हो जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे वे ध्यान में, समाधि में चले गये हों। मानो उन्होंने मन के समस्त अग्रों को दुनिया के विचारों से हटाकर उस वादन में लगा दिया, केन्द्रित कर दिया। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मन अपनी पसंद के विषयों में एकाग्र हो जाता है। पर यह ध्यान योग नहीं है। जब हम अपनी पसन्द के विषयों पर मन को एकाग्र करते हैं तो वह पसन्द का विषय हमसे बाहर रहता है पर ध्यान योग में हम मन के सारे अग्रों को मन पर ही एकाग्र करते हैं। मन को

मन के ऊपर ही एकाग्र करने का अर्थ क्या ?—यह कि आज हमारा मन है बड़ा भोथड़ा क्योंकि उसके अग्र इधर सेउधर भागते हैं । उसमें Penetrating Power (भेदन शक्ति) नहीं है । पर जिस समय हम मन के अग्रों को समेटते हैं तो उसमें भेदन शक्ति आ जाती है और जब उसे मन के ऊपर ही एकाग्र करते हैं तो वह मन की परतों को छेदते हुए मन की गहराइयों में उतरने लगता है। उससे हमें अनुभूतियाँ होती हैं जिसे हम योगज अनुभूतियाँ कहते हैं। जैसे एक लौकिक उदाहरण लें—सामान्य जो आलोक की किरण है उसमें Penetrating power नहीं है। पर यदि इसी किरण की Frequency बढ़ा दी जाय अथवा Wavelength घटा दी जाय तो यह X-Ray (एक्सरे) बन जाती है। और तब यह कपड़े और चमड़े आदि को भेदती हुई शरीर के भीतर तक प्रवेश कर जाती है। Deep X-Ray therapy के पीछे यही सिद्धान्त कार्य करता है। इसी प्रकार यह जो हवा है । उसमें सामान्य अवस्था में कोई दवाव अथवा असर नहीं दीखता है पर जब इसी हवा को Compress कर दिया जाता है तब वह कठोर से कठोर चट्टानों को भी काट देती है। Aircompressor के पीछे हम इसी सिद्धान्त को कार्यरत पाते हैं । उसी प्रकार मन में भी अपने आप को छेदने की ताकत है और यह ताकत तब प्रकट होती है जब हम मन को मन के ही ऊपर एकाग्र करते हैं। तब एक ऐसी स्थिति आती है जब मन मानों अपने को छलांग मारकर पार कर जाता है। और तब लिंकन बार्नेट की भाषा में 'मनुष्य के अपने को लाँघकर अपने भीतर देखने की बात' पूरी तरह चरितार्थ होती है। माण्डुक्य उपनिषद में कहा गया है—'प्रपञ्चोपशमं शान्त शिवमद्वैतं चतुर्थ भज्यते स आत्मा स विज्ञेयः।' वही आत्मा में अवस्थित होने की अवस्था है। वह चौथी अवस्था है। उसको 'तुरीय' कहा गया है। उसे ही 'अमनी मन' की अवस्था भी कहते हैं जिसमें मन अपनी सीमा को पारकर देश काल और निमित्त के परे चला जाता है। तात्पर्य यह—जो बातें आइन्स्टीन ने कही, लिंकन बार्नेट ने कही वह तो भारत में कई हजार वर्ष पूर्व कही जा चुकी हैं। यह हमारे वेदान्त-धर्म की परम्परा है जहाँ यह बताया गया है कि सत्य का साक्षात्कार होगा। हमने कभी विज्ञान की तौहीनी नहीं की वरन विज्ञान को धर्म के सहायक तथा परिपूरक के रूप में लिया। और जब तक भारत में हम धर्म और विज्ञान को साथ लेकर चलते रहे तब तक हमने धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में तथा विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की। पर जबसे भारत गुलाम हुआ तबसे हमारा मन संकीर्ण हो गया। हमने अपने मन के सारे दरवाजे बन्द कर दिये इसीलिए धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास और कुसंस्कार पनपा तथा हमारे जीवन में गिरावट आयी। आज हम जो धर्म की स्थिति देख रहे हैं जो केवल कुछ क्रिया अनुष्ठानों तथा मत मतान्तर तक सीमित है वह यथार्थ धर्म नहीं है। यथार्थ धर्म तो वेदान्त है जो डंके की चोट पर सत्य के रहस्य के उद्घाटन की घोषणा करता है। तथा जो विज्ञान के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता है तथा उसे परिपूर्णता प्रदान करता है।

स्वामी विवेकानन्द और जनसाधारण

स्वामी सत्यरूपानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, रायपुर

स्वामी विवेकानन्दजी ने स्वप्न देखा था कि भारत का भविष्य यहाँ के तरुणों के हाथों गढ़ा जायेगा। आज स्वामीजी की आत्मा यह देख कर अत्यन्त आनन्दित हो रही होगी कि सहस्रों युवक उनके भाव से प्रेरित होकर अपना चरित्र गठन करने को कटिबद्ध हैं। स्वामीजी के उपदेशों तथा दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके उपदेशों की बहुमुखता को समझा जाय। स्वामीजी ने हमें मानव-जीवन का एक सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन दिया है। मानव-जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो उनके उपदेशों से अछूता रह गया हो।

स्वामीजी ने जीवन के शाश्वत तत्वों की अनुभूति की थी इसलिए उनके द्वारा दिये गये जीवन की समस्याओं के समाधान भी शाश्वत एवं विश्वजनीन हैं।

केवल भारत ही नहीं, समस्त विश्व की समस्याओं का समाधान हमें स्वामीजी की शिक्षाओं में मिलता है। इतना ही नहीं स्वामीजी द्वारा दिये गये समाधानों के अतिरिक्त विश्व की समस्याओं का और कोई विकल्प या समाधान नहीं है। इस युग की यह माँग है कि उनके जीवन-दर्शन को पढ़ा जाय, उस पर विचार-विमर्श किया जाय और व्यावहारिक जीवन में उसे उतारा जाय। इसका सबसे बड़ा दायित्व आप और हम पर है, जो लोग स्वामी विवेकानन्दजी के आदर्शों को लेकर चलने की चेष्टा कर रहे हैं। आने वाले युग में सारा विश्व इस बात पर हमारी निन्दा या प्रशंसा करेगा कि हमने स्वामीजी के विचारों, उपदेशों को अपने जीवन में कितना उतारा है या उसकी कितनी उपेक्षा की है। यदि हमने प्रमाद पूर्वक उनके विचारों और उपदेशों की उपेक्षा की तो सारा विश्व हमें अभिशाप देगा और यदि हमने नम्रता पूर्वक अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनपर आचरण करने की चेष्टा की तो सारा विश्व हमें आशीर्वाद देगा तथा हमारा स्वयं का जीवन भी धन्य हो जायेगा।

अपने भारत के जनसाधारण पर विचार करने के पूर्व हमें यह देखना होगा कि स्वामीजी की दृष्टि में भारत क्या था? यह बात कदाचित् कुछ लोगों को समीचीन न लगे कि भला स्वामीजी की दृष्टि में भारत क्या था इस बात पर क्यों विचार किया जाय? भारत भारत है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने कन्या कुमारी की अन्तिम शिला पर बैठ ध्यानस्थ हो जिस भारत माता का साक्षात्कार किया था वह भारत, तथा उस समय के हमारे भारतीय भाइयों के मन में भारत का जो चित्र था, तथा कुछ अंशों में अभी भी हमारे मन में जिस भारत का चित्र है उसमें बहुत बड़ा अंतर है। स्वामीजी के 'भारत' को यदि एक शब्द में व्यक्त करना हो तो वह "जागृता देवी" थीं! माता थीं! उन्होंने भारत माता के दर्शन किये थे। स्वामीजी ने राजपुताना के अपने एक मित्र को एक पत्र में लिखा था, "मेरी इच्छा है कि मैं अपना समस्त जीवन अपने धर्म तथा अपनी मातृभूमि की सेवा में समर्पित कर दूँ।"

१८९७ ई०. में पाश्चात्य देशों में भारतीय संस्कृति और धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरा कर जब स्वामीजी भारत लौटे तब कोलम्बो के हिन्दू नागरिकों ने उनका भव्य स्वागत किया था। उस स्वागत के उत्तर में दिया गया उनका वह व्याख्यान बहुत प्रसिद्ध है। उस व्याख्यान का आरम्भ ही स्वामीजी ने भारत के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करते हुए किया था। इस व्याख्यान को यदि आप पढ़ें तो पायेंगे कि आरम्भ में ही स्वामीजी कहते हैं, "पहले मैं भी अन्य हिन्दुओं की तरह विश्वास करता था कि भारत पुण्य भूमि है--कर्म भूमि है"...पर आज मैं इस सभा के सामने खड़ा होकर दृढ़ता के साथ बार-बार कहता हूँ कि यह सत्य है ! सत्य है ! यदि पृथ्वी में ऐसा कोई देश है जिसे हम पुण्य भूमि कह सकते हैं—यदि ऐसा कोई स्थान हैं जहाँ पृथ्वी के सब जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना पड़ता है—यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ भगवान को प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले जीवमात्र को आना होगा, यदि ऐसा कोई देश है जहाँ मानव जाति के भीतर क्षमा, धृति, दया, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों का सर्वापेक्षा अधिक विकास हुआ है—यदि ऐसा कोई देश है जहाँ सर्वापेक्षा अधिक आध्यात्मिकता तथा अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ है तो मैं निश्चित रूप से यही कहूँगा कि वह हमारी मातृभूमि भारतवर्ष है।" (भारत में विवेकानन्द पृ०२, ३, षष्ठ संस्करण)

यह भारत क्या है यह हमें समझना होगा। स्वामीजी का भारत, तथा जिस भारत की कल्पना आज हमारे मन में है, उसमें अन्तर कहाँ है, यह समझना होगा। इसे समझने के लिए हमारे इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। स्वामीजी ने जिस भारत के दर्शन किये थे वह उनका समकालीन भूखा, नंगा, दरिद्र भारत नहीं था। जिस भारत के प्रति उन्होंने श्रद्धांजलि अर्पित की थी वह परमुखापेक्षी गुलाम भारत नहीं था। स्वामीजी ने जिस भारत के दर्शन किये थे वह अतीत का गौरवशाली तथा भविष्य में महान महिमा मण्डित होने वाला सर्वांगीण उन्नत भारत था।

स्वामीजी ने भारत के इतिहास का गहन अध्ययन किया था। अपने एक व्याख्यान "हमारा प्रस्तुत कार्य" में स्वामीजी ने हमारे देश के पतन का कारण बताया है। उस कारण की मीमांसा करते हुए उन्होंने एक अभिनव ऐतिहासिक दृष्टि देकर हमारे एक बड़े भ्रम को दूर किया। हम लोगों को इतिहास में पढ़ाया गया है कि मुसलमानों के आक्रमण के बाद हमारे देश का पतन हुआ और हम गुलाम हो गये। स्वामीजी ने हमें बताया कि मुसलमानों के आक्रमण के दो तीन शताब्दी पूर्व ही हमारी जाति ने अपना सत्व एवं शक्ति खो दी थी। इतिहास में रुचि रखने वाले लोग जानते हैं कि इस्लाम के प्रारम्भिक धर्म प्रचार आक्रमण के समय लगभग सन् ७१२ या ७१५ ई० में भारत का सिंध प्रांत, जो अब पाकिस्तान में है, पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। किन्तु इस देश में पहली बार उनका राज्य स्थापित हुआ ११९१ ई० में जब मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को हराकर दिल्ली की गद्दी पर बैठा।[1]

आश्चर्य की बात है, इस बीच लगभग चार पाँच सौ वर्षों का अन्तराल रहा। कहाँ आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ और कहाँ बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ। किन्तु इन विदेशियों के आक्रमण को रोकने के लिए कोई चेष्टा नहीं हुई। हम कितने असंगठित और दुर्बल हो गये थे, इतिहास के कुछ उदाहरण ही यह हमें स्पष्ट बता देते हैं।

११९१ में मुहम्मद गोरी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। तीन वर्ष पश्चात् सन् ११९४ में उसने काशी पर विजय प्राप्त कर ली। लगभग उसी समय

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २९२।

बंगदेश भी मुसलमानों के अधिकार में आ गया।

क्या कारण है कि जहाँ एक ओर हजारों शकों और हूणों के आक्रमण हमारे देश पर वर्षों होते रहे किन्तु उनको हमारी जाति ने आत्मसात कर लिया। वे हमारे रक्त में मिल कर एक हो गये; उन्होंने हमारा धर्म स्वीकार कर लिया तथा हमारी संस्कृति से एकाकार हो गये, उसी देश को पेशावर से मुर्शिदाबाद तक मुट्ठी भर मुसलमानों ने ८, १० वर्षों में जीत लिया? क्या कारण था? स्वामी विवेकानन्दजी ने 'भारत का भविष्य' तथा 'मेरी समरनीति' नामक अपने व्याख्यानों में इस कारण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनके 'हमारा प्रस्तुत कार्य' विषयक व्याख्यान में भी हम इसकी चर्चा पाते हैं।

इतिहासकारों का कहना है कि भारत का पतन तो सम्राट हर्षवर्धन के बाद से ही प्रारम्भ हो गया था। हर्षवर्धन के बाद इस देश में कोई चक्रवर्ती सम्राट नहीं हुआ तथा इसी कारण हमारी एकता दुर्बल और खंडित हो गयी। उस समय भी हमारे देशवासी सुशिक्षित थे, वीरता भी उनमें कम नहीं थी। किन्तु अतिसम्पन्नता के कारण उनमें विलासिता आ गयी और उसी का यह परिणाम हुआ कि सिंध पर विधर्मियों के आक्रमण के पश्चात् चार पाँच सौ वर्षों का समय मिलने पर भी हम लोग विपत्ति का सामना करने के लिए स्वयं को प्रस्तुत न कर पाये। इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह सत्य हमारे सामने और भी प्रत्यक्ष हो उठता है। व्यक्तिगत मान प्रतिष्ठा तथा राज्यलोभ के कारण हम परस्पर ही लड़ रहे थे। सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण करने के पूर्व गजनी के अमीर ने गुप्तचर भेजकर वहाँ का सब हालचाल जानना चाहा था। उसे खबर लगी कि सोमनाथ के पास झालोर नामक एक राज्य है जिसके राजा वाक्यपति बड़े शूरवीर और शक्तिशाली हैं। उनके पास एक बड़ी सेना भी है। झालोर के राजा से मैत्री किये बिना सोमनाथ पर विजय असंभव है। गजनवी ने मुल्तान के राजा जयपाल को अपना दूत बनाकर झालोर भेजा तथा राजा वाक्यपति से कहलाया कि हम आपके राज्य पर आक्रमण नहीं करना चाहते और न ही आपको किसी प्रकार की हानि ही पहुँचाना चाहते हैं। आप हमारे सोमनाथ पर आक्रमण के समय कोई बाधा न दें तथा तटस्थ रहें। राजपूती शान में राजा वाक्यपति ने गजनवी को वचन दे दिया। जब सोमनाथ पर आक्रमण हुआ तब राजा भीमदेव के नेतृत्व में राजपूतों ने मन्दिर की रक्षा करने का निर्णय किया। राजा भीमदेव ने झालोर के राजा के पास अपने मंत्री को भेज कर इस विपत्ति के समय मन्दिर को बचाने में सहायता करने की प्रार्थना की। झालोर के राजा वाक्यपति ने उत्तर दिया "गत वर्ष जब मैं मारवाड़ पर आक्रमण करना चाहता था और आप से मदद माँगी थी उस समय आपने कहा था कि मारवाड़ में आपके सम्बन्धी हैं इसलिए आप मेरी सहायता नहीं कर सकते। अब जब तुम पर विपत्ति आयी है, मैं भी तुम्हारी सहायता नहीं करूँगा। तुम्हारी विपत्ति तुम्हीं झेलो।" और इस फूट का परिणाम क्या हुआ यह हम सभी जानते हैं।

यह क्यों हुआ? हमारी दुर्बलता, हमारे धर्म में आयी विकृति ही इसका कारण थी। धर्म रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों में सिमट कर निर्जीव-सा हो उठा था। धर्म के नाम पर समाज ऊँची-नीची श्रेणियों में विभक्त हो गया। सारा देश शासक और शासित दो भागों में बँट गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जिनकी संख्या समाज में अपेक्षाकृत कम थी, शासक बन बैठे तथा बहुसंख्यक दीन-हीन, दुर्बल, उपेक्षित, परिश्रमरत लोग शासित होने के लिए बाध्य किये गये। यही बहुसंख्यक उपेक्षित दीन-हीन लोगों का समाज ही भारत का जनसाधारण समाज था और आज भी है।

परिव्राजक जीवन में जहाँ स्वामीजी राजा महाराजाओं के साथ रहे, वहीं वे दीन दुःखी मोची मेहतरों के साथ भी रहे थे। अपने अनुभव से स्वामी जी ने यह जान लिया था कि राजा महाराजाओं तथा धनिक वर्ग के लोगों से इस देश का कल्याण नहीं हो सकता। इस देश का कल्याण होगा उन बहुसंख्यक दीन दुःखियों के उत्थान से, उनके विकास से, उनके जागरण से। इसीलिए उन्होंने दो बातें कहीं "जनसाधारण के पास जाओ', अर्थात् उन्हें जगाओ उनकी उन्नति की व्यवस्था करो तथा "स्त्रियों को शिक्षा दो"। इसके बिना इस देश का कल्याण नहीं हो सकता।

जन साधारण को जगाने का उपाय क्या है? स्वामी जी ने हमें बताया कि शिक्षा ही एक मात्र वह उपाय है जिसके द्वारा जन साधारण को जगाया जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि स्वामीजी ने अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी किरानी बनाने की शिक्षा की बात नहीं कही थी। उनका कथन था कि जो शिक्षा मनुष्य को मनुष्यत्व दे, उसके भीतर की पूर्णता को प्रकट करे उसे आत्म विश्वासी तथा स्वावलंबी बनाए वहीं शिक्षा सच्ची शिक्षा है। केवल अर्थकारी शिक्षा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं कर सकती अतः अर्थकारी शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा भी देनी पड़ेगी। धर्म ही हमारे समाज का मेरुदण्ड है। इसलिए हमारी शिक्षा का आधार धार्मिक और आध्यात्मिक होना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि यह शिक्षा कौन दे? इसका दायित्व स्वामीजी ने देश के शिक्षित लोगों को दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि देश का शिक्षित वर्ग इन्हीं दीन दुःखियों के परिश्रम से उपलब्ध सुविधाओं के कारण ही शिक्षित हो सका है। अतः अब यह शिक्षित वर्ग के लोगों का कर्त्तव्य है कि वह अपने दीन-हीन अशिक्षित भाइयों की शिक्षा का दायित्व लें, उसका समुचित प्रबंध करें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो वे देशद्रोही हैं।

दूसरी एक महत्वपूर्ण बात स्वामीजी ने और कही है। हमारे ये दीन दुःखी देशवासी भाई अपना व्यक्तित्व खो चुके है। वे आत्मविश्वास खो चुके हैं। दीनता तथा हीनदासत्व की भावना उनके मन में घर किए बैठी है। इसे दूर करना होगा। उन्हें बताना होगा कि भाई, तुम भी मनुष्य हो, तुम्हारे भीतर भी अनन्त शक्ति है। तुम्हारी उन्नति की संभावनाएँ भी महान हैं। उठो! जागो! अपने आप पर विश्वास करो तथा उन्नत मस्तक हो कर सभ्य और शिक्षित लोगों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलो। महानता और सफलता किसी वर्ग विशेष की संपत्ति नहीं है। विश्वास रखो, लगन और परिश्रम के द्वारा तुम भी महानता और सफलता प्राप्त कर सकते हो।

स्वामीजी ने हमें यह चेतावनी दी है कि यदि हमने अपना कर्त्तव्य पालन नहीं किया तथा दुःखी दरिद्र जन-साधारण की उपेक्षा की तो वह दिन दूर नहीं कि ये लोग जागेंगे तथा एक महान दानव की भाँति तुम्हें नष्ट करने के लिए, निगल जाने के लिए टूट पड़ेंगे। और यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ तो विनाश के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जायेगा। क्योंकि तोड़-फोड़ तथा ऊपर के वर्ग को घसीट कर नीचे उतार देने के द्वारा कभी भी समाज की उन्नति और देश का कल्याण नहीं हो सकता। भारत और उसके साथ विश्व के कल्याण का एक मात्र उपाय है निम्न वर्ग के लोगों को ऊपर उठाना। उनकी उन्नति करना। स्वामीजी ने अपने 'भारत का भविष्य' व्याख्यान में कहा कि हमारे समाज का, देश का आदर्श है 'ब्राह्मणत्व'। भारत की कल्याण-योजना की एक कड़ी है ब्राह्मण और दूसरी चाण्डाल। ब्राह्मण चोटी की कड़ी है और चाण्डाल सबसे नीचे की। देश की सर्वांगीण उन्नति का उपाय यह है कि इस चाण्डाल को ब्राह्मणत्व के पद पर उन्नत करना होगा। उसे ऊँचा उठाना होगा।

ब्राह्मण कौन है ? क्या कोई जन्म से ब्राह्मण होता है ? क्योंकि मेरे पिता-माता ब्राह्मण थे इस लिए मैं भी ब्राह्मण हो गया । नहीं । ब्राह्मण जन्म से नही, कर्म से होता है । ब्राह्मण का आदर्श है कि वह अपरिग्रही होगा वह धन का संचय नहीं करेगा । वह तपस्वी होगा । उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य होगा, आध्यात्मिक ज्ञान और विद्या संचय करना तथा उसका निःशुल्क वितरण करना । अपने आचरण तथा जीवन से यह दिखा देना कि मानव जीवन का उद्देश्य है ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना, ईश्वर का दर्शन करना ।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य भोग कभी नहीं हो सकता । यह धारणा कि इन्द्रिय सुखों की भोग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध करा देने पर जीवन की समस्या का समाधान हो जायगा, पूर्णतः भ्रान्त है । वर्तमान विश्व के सम्पन्न देश इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं । गत लगभग १०० वर्षों में अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस तथा निकट भूत में जापान ने यह चेष्टा की है कि उन देशों के नागरिकों को सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएं और सुख उपलब्ध कराये जाय । इस प्रयास में वे देश पर्याप्त मात्रा में सफल भी हुए हैं । किन्तु उसका परिणाम जो हमारे सामने है वह तो प्रज्वलित अग्नि में घी डालने के समान ही है । जीवन की समस्या के समाधान के स्थान पर आज इन देशों ने विश्व को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है । संसार को यदि विनाश से बचाना है तो उसका एक मात्र उपाय है भारतीय जीवनादर्श की पुनः प्रतिष्ठा ।

भारत के इन उपेक्षित दीन-हीन दरिद्रों के प्रति हम तथाकथित शिक्षित तथा सम्पन्न लोग यदि सहानुभूति न दिखा सके, उनके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन न कर सके तो वह दिन दूर नहीं जब भारत का यह विशाल किन्तु उपेक्षित निम्न वर्ग भोगवादी आदर्श के प्रति आकृष्ट हो उन्मत्त हो उठेगा तथा शिक्षित और सम्पन्न तथाकथित उच्च वर्ग को छिन्न-भिन्न कर उनका विनाश कर देगा ।

अतः धनिकों का यह कर्त्तव्य है कि जिस समाज से उन्हें धन मिला है उसे सभी की सेवा में अर्पित करें । जनसाधारण की दरिद्रता को दूर करने का सक्रिय प्रयास करें, दरिद्र नारायण की पूजा और उपासना अपने धन से करें । जो लोग शिक्षित हैं, विद्वान हैं, वे अपनी शिक्षा तथा विद्या के द्वारा अशिक्षित भाइयों की सेवा करें । उन्हें शिक्षा दें । उन्हें विद्यादान करें । 'मूर्खनारायण' की अपनी अर्जित विद्या द्वारा पूजा और उपासना करें ।

यह उपासना, यह सेवा कहाँ से प्रारम्भ करें ? हम जहाँ रह रहे हैं, अभी हमारी सेवा का वही उपयुक्त क्षेत्र है । उसी स्थान से नारायण सेवा का यह यज्ञ प्रारम्भ करना होगा । हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमारा जन्म जगत् उद्धार के लिए नहीं हुआ है । हमें तो ओस की बूंद की भाँति अज्ञात, अजाना, अचीन्हा रह कर अपना कर्त्तव्य करते जाना होगा । उद्धार का कार्य तो केवल ईश्वर ही करते हैं । इस सेवा के द्वारा हम ईश्वर की कृपा के पात्र हो सकेंगे तथा उसी से हमारा उद्धार होगा । यही लाभ है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के चौवालीस वर्षों के पश्चात् भी आज जन साधारण में छुआ-छूत, ऊँच-नीच जातियों का भेद, अस्पृश्य कहे जाने वाले हमारे भाइयों के प्रति अत्याचार आदि का रोग जड़े जमाये हुए हैं । हमारी यह धारणा हो गयी है कि राजनीति के द्वारा इस समस्या का समाधान हो जायेगा । हमें यह विशेष रूप से स्मरण रखना होगा कि लोक सभा या विधान सभाओं में कानून बनाकर जनमानस को नहीं बदला जा सकता । स्वामी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि केवल राजनीति के द्वारा हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता । इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यही है कि

राजनैतिक दासता चौवालीस वर्षों पूर्व चली गयी किंतु हमारी समस्याएँ जटिलतर होती जा रही हैं। छूआ-छूत तथा अस्पृश्यता की समस्या का समाधान स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा दिये गये जीवन-दर्शन से ही संभव है, और वह है यह कि प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है, अतः प्रत्येक मनुष्य के भीतर, हृदय में, ईश्वर विराजमान हैं। इस दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं। कोई नीच नहीं है, कोई अछूत नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर सभी की उन्नति में सहायक होने की चेष्टा करनी होगी। पहले स्वयं अपने मन से छूआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना को निकाल फेंकना होगा। तथा अस्पृश्य कहे जाने वाले भाइयों के प्रति सहृदयता का व्यवहार करते हुए जनसाधारण में इस तथ्य का प्रचार करना होगा। इसी उपाय से छूआ-छूत की समस्या का समाधान होगा।

जन साधारण की उन्नति का एक महान सूत्र स्वामी जी ने दिया है, वह है स्त्री शिक्षा तथा स्त्रियों की उन्नति की योजना। स्त्रियों की दुर्दशा किसी भी समाज के पतन का एक बहुत बड़ा कारण है, अतः हमें स्त्रियों की उन्नति और शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। उसमें सहायक होना होगा। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि स्त्रियों को उचित शिक्षा स्त्रियाँ ही दे सकतीं हैं। उनकी उन्नति की सही योजना वे ही बना सकतीं हैं। हम पुरुषों को उनके कार्य में सहायक मात्र ही होना है। उनके कार्यों का भार उन लोगों पर ही रहेगा। श्री मां सारदा देवी इस युग में नारी जीवन के सर्वांगीण पूर्ण आदर्श के रूप में अवतरित हुई थीं। उनके जीवन और उपदेशों के अनुसार महिलाओं को अपना जीवन गठन करने की प्रेरणा देनी होगी।

आप हम सब जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द को अपना जीवनादर्श चुना है उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि राजनीति हमारे समाज की मौलिक समस्याओं को हल नहीं कर सकती। हमारी समस्याओं के समाधान का, हमारी उन्नति का उपाय है समाज के निम्नतर लोगों को ऊँचा उठाना। उन्हें शिक्षा देना। उन्हें व्यक्तित्ववान बनाना। तथा इस कार्य का दायित्व हमें अपने कंधों पर लेना होगा। संभव है आज हमारी संख्या कम हो, किंतु यह विश्वास रखें कि जो व्यक्ति पवित्र तथा निःस्वार्थ होकर दूसरों की सेवा के लिए अग्रसर होते हैं, ईश्वर सदैव उनके साथ रहते हैं तथा अल्प संख्यक हो कर भी ईश्वरीय शक्ति के बल पर वे लोग महान कार्य करने में समर्थ होते हैं।

भारत तभी जगेगा जब विशाल हृदय वाले सैकड़ों स्त्री पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और शरीर से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर में निरंतर नीचे डूबते जा रहे हैं।

परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

कहावत है, "बहता पानी और रमता साधु" निर्मल रहते हैं। पानी जब तक बहता है, तब तक काई नहीं जमती तथा उसमें बदबू नहीं पैदा होती, इसी तरह भ्रमण करता संन्यासी आसक्ति में नहीं पड़ता। संन्यासी की सांसारिक आसक्ति से रक्षा के लिए यह नियम बनाया गया है कि वह ग्राम में एक रात तथा नगर में तोन रात से अधिक न ठहरे।

एकाकी निःसंबल परिभ्रमण से साधु का एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सिद्ध होता है। उसमें भगवत्-समपर्ण एवं संन्यासोचित निर्भयता का विकास होता है। आत्मा असंग निर्लिप्त एवं सर्वव्यापी है। वह शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। यही भाव संन्यासी अपने एकाकी स्वच्छन्द भ्रमण के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। उसके कठोर संन्यास के उच्च आदर्श की परीक्षा भी इस तरह के संबल और आश्रय रहित भ्रमण से होती है। यही कारण है कि भारत के संन्यासियों का परिव्राजक जीवन के प्रति इतना अधिक आर्कषण है।

तीर्थ-दर्शन के उद्देश्य से साधु संन्यासी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं, एवं तीर्थों की घनीभूत आध्यात्मिक भाव तरंगों से अपने आध्यात्मिक जीवन में प्रेरणा एवं उद्दीपना प्राप्त करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि साधु-संन्यासी सारी जीवन ही भ्रमण नहीं करते। प्रारम्भिक जीवन में भ्रमण करने के पश्चात् किसी एक स्थान पर स्थायी निवास करने लग जाते हैं। परिभ्रमणकारी संन्यासी 'बहूदक' कहलाते है,। एवं एक स्थान पर कुटिया बनाकर रहने वाले 'कुटीचक' कहलाते हैं। एक मान्यता यह भी है कि जब तक मन चंचल रहता है, तब तक संन्यासी घूमते रहते हैं। मन के शान्त होने पर एक स्थान पर आसन जमाकर अन्तर्मुख होकर अपने हृदय में ही परमात्मा का अनुसंधान करते हैं। बहिर्मुखी वृत्ति जब तक रहती है, तब तक तीर्थ दर्शन की उपयोगिता है। लेकिन जैसे-जैसे मन अन्तर्मुखी होने लगता हैं वैसे-वैसे साधक को यह अनुभव होता है कि जिस परमात्मा को वह तीर्थों व देवालयों में खोजता रहा था, वह तो उसके हृदय में ही विद्यमान है। तब वह अधिक नहीं भटकता, एक स्थान पर जम जाता है।

लेकिन उच्च आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न महापुरुष एक अन्य उद्देश्य से तीर्थाटनकरते हैं। उनके लिए पूजा, तप, तीर्थ यात्रादि अनिवार्य नहीं हैं। ये महापुरुष तीर्थों के माहात्म्य की वृद्धि करने के लिए तीर्थ भ्रमण करते है। "तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि"। स्वामी जी के अनुसार एक संन्यासी तीर्थ से तीर्थ भ्रमण, तपस्या आदि के द्वारा पुण्य अर्जन कर उन्हें जगत को वितरित करता हैं।

संन्यासी के एकान्त निर्भीक, निर्लिप्त होकर भ्रमण करने के विषय में भगवान बुद्ध ने स्वयं अपने शिष्यों को जो प्रसिद्ध उपदेश दिया था वह इस प्रकार हैं :

Go forward without a path !
Fearing nothing, Caring for nothing,
Wander alone like the rhinoceros !
Even as lion not trembling at voices,
Even as the lotus leaf, unstained by the water,
Do thou wander alone like the rhimoceros.

अर्थात्,

निश्चित मार्ग बिना आगे बढ़ो
हो न किसी का भय, चिन्ता छोड़ो।
गेंडे की तरह एकाकी विचरण करो।
सिंह ध्वनियों से न होता विचलित,
पवन नहीं बंधता जाल में,
पद्मपत्र रहता जल में निर्लिप्त उसी तरह गेंडे की तरह, एकाकी विचरण करो।

नित्य मुक्त भ्रमणकारी संन्यासी के आदर्श के विषय में स्वयं स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

होओ तुम एक स्रोत की तरह,
स्वाधीन, उन्मुक्त नित्य प्रवाहित।
स्वाधीन उन्मुक्त जाओ स्थान-स्थान
अज्ञानियों का दूर करो अज्ञान।
विपद का करो न भय,
सुख के पीछे भी न भागो।
गृहच्छन्न तुम्हारा हो आकाश,
शयन तुम्हारा विस्तृत घास।
दैव वश जो होवे प्राप्त,
रहो उससे सदा परितृप्त।

(२)

कुछ इसी प्रकार की प्रेरणाएँ स्वामी विवेकानन्द के भारत परिभ्रमण के पीछे थी। श्रीराम कृष्ण की महासमाधि के बाद उन्होंने अपने गुरुभाइयों के साथ विधिवत संन्यास ग्रहण किया और एक जीर्णशीर्ण भवन में जो बाद में रामकृष्ण संघ में वाराहनगर मठ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, रहने लगे। लेकिन तरुण तेजस्वी संन्यासी मंडली में तीर्थ-भ्रमण की प्रेरणा जाग्रत हो उठी और एक-एक करके लगभग सभी मठ-निवासी भ्रमण के लिए निकल पड़े। स्वामी विवेकानन्द भी कलकत्ता त्यागना चाहते थे। कलकत्ता में उनकी विधवा दरिद्र माता और उनके छोटे-छोटे भाई अत्यन्त निर्धनता की अवस्था में रह रहे थे। उन्हें देखकर स्वामी जी का रजोगुण प्रेरित अहंकार सर उठाता था, तथा उन्हें सांसारिक कर्म में, परिवार के दारिद्र्य निवारण के कार्य में प्रेरित करता था। अतः उन्हें महान अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना पड़ता था।

कलकत्ते से परिब्राजक के रूप में बहिर्गत होने में स्वामी विवेकानन्द को कुछ समय लगा। पहले छोटी-छोटी यात्राओं पर, देवघर, काशी आदि स्थानों पर गये लेकिन वाराह नगर मठ में अपने गुरुभाइयों के बुलाने पर, अथवा अन्य किसी कारण से वापस लौट आये। श्रीरामकृष्ण उनके कन्धों पर इस युवक संन्यासी मंडली का भार न्यस्त कर गये थे। अत: कर्त्तव्य बोध के कारण वे बहुत समय तक सब बन्धनों को काटकर परिब्रजन के लिए निकल नहीं सके। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें अपनेगुरुभाइयों का वन्धन भी एक सोने की जंजीर सा लगने लगा; और वे इस स्वर्णिम बन्धन को भी काटने के लिए व्यग्र हो उठे। इस समय स्वामीजी के मन में, दो भावों का प्रबल संघर्ष चल रहा था। एक ओर था मठ, तथा उसके आदर्श के प्रति निष्ठा और दूसरी ओर था पुरातन परम्परागत सन्यास का आदर्श और एकाकी संन्यासी जीवन का आकर्षण। अन्ततोगत्वा वे अस्थायी रूप से ही सही, मठ के बन्धन काटने में सफल हुए वे परिब्राजक के रूप में भ्रमण करते हुए। अपनी शक्ति का अंकन करना चाहते थे, और इस तरह पूर्ण निर्भयता की उपलब्धि करना चाहते थे। साथ ही

वे जीवन के नये अनुभव करके अपने ज्ञान का विस्तार करना चाहते थे। उनके गुरुभाई उन पर अत्यधिक निर्भर हो रहे थे। वे चाहते थे कि उनकी अनुपस्थिति में वे अपने पैरों पर खड़ा होना सीखें।

श्रीरामकृष्ण की महती कृपा से स्वामी विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण को जीविद्दशा में ही निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि हुई थी। अब स्वामीजी, उसी चरम अवस्था को प्राप्त करना चाहते थे। उनकी इच्छा उत्तराखण्ड में हिमालय की किसी गिरि कन्दरा में ध्यान मग्न होकर पुनः उस समाधि सुख का आस्वादन करने की थी। परिव्राजक के रूप में निकलने का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था। इसीलिए उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी अखंडानन्द को अपने साथ लिया था, जिन्हें हिमालय एवं तिब्बत भ्रमण का पर्याप्त अनुभव था।

(३)

स्वामी विवेकानन्द की परिव्राजक जीवन की कहानी उपन्यास की तरह रोचक है, और साथ ही साथ अत्यन्त शिक्षाप्रद भी। इन यात्राओं ने स्वामी जी के ज्ञान की अभिवृद्धि की होगी, यह तो निर्विवाद सत्य है ही, उसका पठन हम जैसे घर बैठे पाठक के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। स्वामी जी ने भारत के असंख्य तीर्थों का दर्शन किया, तथा वहाँ विद्यमान जीवन्त जाग्रत आध्यात्मिकता का प्रत्यक्ष अनुभव किया। पवहारी बाबा, त्रैलंग स्वामी, स्वामी भाष्करानन्द आदि अनेक सिद्ध महात्माओं का दर्शन एवं उनका सत्संग करने का अवसर उन्हें मिला। कभी उन्हें समादर प्राप्त हुआ तो कहीं उन्हें चोर लफंगा समझा गया। किसी दिन उन्होंने पेड़ों के नीचे रात्रिवास किया तो किसी दिन किसी महाराजा के महल में। वे धनी-निर्धन, विद्वान मूर्ख, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी से समान रूप से मिलें। परिव्राजक के रूप में स्वामी विवेकानन्द को कुछ प्राप्त अनुभव केवल उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित थे, कुछ श्रीरामकृष्ण की जीवन्त सत्ता का अनुभव कराने वाले थे, और कुछ के द्वारा उन्हें भारत के जनसाधारण की महानता की झलक प्राप्त हुई थी।

काशी में एक संकरे रास्ते से जाते समय कुछ बन्दरों ने स्वामी जी का पीछा किया। स्वामी जी भागे, पर जितना ही वे भागते, बन्दर उतनी ही तेजी से उनका पीछा करते। इतने में एक संन्यासी ने उनसे कहा, "भागते क्यों हो, सामना करो।" उनको यह बात सुनकर स्वामीजी रुक गये तथा ज्यों ही वे बन्दरों का सामना करने के लिए मुड़े, बन्दर भाग खड़े हुए। परवर्ती काल में इस घटना का उल्लेख करते हुए वे अपने प्रवचनों में लोगों को विपत्तियों से धबराने का नहीं बल्कि सामना करने का उपदेश दिया करते थे।

राजस्थान की मरुभूमि में जाते हुए वे सुन्दर झीलें देखा करते थे। एक दिन प्यास को बुझाने के लिए वे उनमें से एक की ओर बढ़, पर जैसे-जैसे वे बढ़ते गये, वह झील भी आगे बढ़ती गयी। अचानक उन्हें याद हो आया कि यह तो मरीचिका है। उसके बाद भी वे उसे देखते थे, लेकिन अब वे उसे झील नहीं समझते थे। इस घटना का उल्लेख भी वे अपने प्रवचनों में विश्व की अनित्यता एवं प्रतिभासिकता समझाने के लिए किया करते थे।

कभी-कभी उन्हें ३-४ दिन तक भोजन नहीं मिलता था। एक बार इसी तरह भूखे और अत्यधिक कलान्त हो वे रास्ते के किनारे एक पेड़ के नीचे गिर पड़े, उन्हें लगा कि उनकी समग्र शक्ति समाप्त हो गयी है। लेकिन तभी उनके भीतर से यह ध्वनि उठने लगी, "मुझे न मृत्यु है न भय, न मेरा जन्म हुआ है, न मुझमें मृत्यु है। क्षुधा व पिपासा मुझे छू नही सकती। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। "तत्वमसि," समस्त प्रकृति मुझे दबा नहीं सकती, वह मेरी दास है, हे देवाधिदेव अपने

खोये ऐश्वर्य, स्वराज्य को पुनः प्राप्त करो। उठो, जागो और बिना रुके आगे बढ़ते रहो"। स्वामीजी उठ खड़े हुए और पुनः नयी शक्ति से चलने लगे। इस घटना का वर्णन कर वे अपने श्रोताओं को अपनी वास्तविक सत्ता को प्रोत्साहित करने, जाग्रत करने का आह्वान करते थे जिससे समस्त अहंकार का नाश किया जा सके।

इस परिव्राजक जीवन में उन्हें श्रीरामकृष्ण के वरदहस्त का अनुभव भी हुआ। गोवर्धन परिक्रमा के समय उन्होंने यह प्रण कर लिया था कि वे किसी से भिक्षा नहीं माँगेंगे। बहुत समय चलते-चलते जब वे भूख व श्रम से क्लान्त हो पड़े, तब अचानक उन्होंने किसी को पीछे से पुकारते देखा। एक व्यक्ति उनके लिए भोजन व पानी लेकर आ रहा था। स्वामी जी उससे दूर भागने लगे। उस व्यक्ति ने भी दौड़ना शुरू किया और अन्त में स्वामी जी को भोजन कराकर ही छोड़ा।

गाजीपुर जाते समय ताड़ीघाट स्टेशन पर उतर कर वे एक पेड़ के नीचे चुपचाप बैठ गये। एक बनिया उन्हें चिढ़ाने तथा नीचा दिखाने के उद्देश्य से स्टेशन के शेड के नीचे दरी बिछाकर अपने साथ लाये माल पकवान उन्हें दिखा-दिखाकर खाने लगा तथा उन पर व्यंग करने लगा। इतने में उसी स्टेशन का एक हलवाई भोजन तथा पानी लेकर स्वामीजी को ढूँढ़ता हुआ आया और उन्हें पाकर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें भोजन मिठाई और फल ग्रहण करने के लिए बाध्य करने लगा। उसने कहा कि वह दोपहर को विश्राम कर रहा था, कि उसके इष्टदेव रामजी ने उसे धक्का देकर बार-बार जगाया और स्वामीजी के लिए भोजन ले जाने का आदेश दिया है। इसके अतिरिक्त, उत्तराखण्ड में एक बार स्वामी जी को श्रीरामकृष्ण का सक्षात् दर्शन तथा उनके साथ वार्तालाप भी हुआ था। गाजीपुर में पवहारी बाबा से दीक्षा लेने का निश्चय करने पर उन्हें अनेक दिनों तक श्रीरामकृष्ण को अपने विस्तर के निकट उदास चेहरे से उनकी ओर ताकते देखा, जिसके फलस्वरूप वे पवहारी बाबा से दीक्षा नहीं ले सके। इन विभिन्न घटनाओं ने उनको यह स्पष्ट रूप से बता दिया था कि श्रीरामकृष्ण सदा उनके साथ विद्यमान हैं तथा सदा उनकी रक्षा एवं मार्ग दर्शन कर रहे हैं।

खेतड़ी में स्वामीजी के उपदेशों को सुनने के लिए आने वालों का सुबह से शाम तक तथा रात को भी अनवरत ताता लगा रहा। लेकिन किसी ने स्वामीजी से भोजन के लिए पूछा तक नहीं। तीसरे दिन जब सब लोग चले गये, एक निम्न वर्ग के व्यक्ति ने स्वामी जी के पास आकर कहा "स्वामी जी मुझे यह देखकर अत्यन्त कष्ट हो रहा है कि आपने तीन दिनों से कुछ नहीं खाया।" स्वामी जी को लगा मानो साक्षात् भगवान ही इस रूप में आये हैं। उन्होंने उस व्यक्ति से कुछ खाने को देने को कहा। इस पर उसने कहा कि मैं एक मोची हूँ और अपने हाथ से बना भोजन आपको कैसे दे सकता हूँ। लेकिन स्वामीजी ने उसे कहा कि तुम अपने हाथ से बनी रोटीयाँ मुझे दो। मैं सहर्ष उन्हें खाऊँगा। बेचारे मोची को भय था कि यदि खेतड़ी के महाराजा को यह बात पता चली कि उसने एक संन्यासी को भोजन दिया है, तो उसे दण्ड भोगना पड़ेगा। फिर भी परिणाम को जानते हुए भी अपने हृदय की भावना के कारण उसने स्वामीजी के लिए भोजन लाया। स्वामी जी को यह भोजन स्वयं इन्द्र द्वारा परोसे गये अमृत से भी स्वादिष्ट लगा। और आंखों में प्रेम एवं कृतज्ञता के आँसू भरकर उन्होंने सोचा, छोटी-छोटी झोपड़ियों में ऐसे अनेक विशाल हृदय लोग निवास करते हैं, और हम उन्हें नीच या शूद्र कहकर उनकी अवहेलना करते हैं"।

इसके अतिरिक्त भी स्वामीजी को अनेक विभिन्न प्रकार के अनुभव हुए यथा—वृन्दावन के रास्ते पर उन्होंने एक मेहतर के हुक्के से धूम्रपान कर अपने उच्चकुल के अभिमान का नाश किया।

हाथरस स्टेशन पर उन्हें स्टेशन मास्टर श्री शुक्ल ने अपने गुरु रूप में वरण किया। अलवर के महाराजा को उन्होंने अत्यन्त प्रभावशाली रूप में मूर्तिपूजा का रहस्य, उपयोगिता एवं यौक्तिकता समझायी, और खेतड़ी में गणिका से स्वयं स्वामीजी ने समदर्शिता का पाठ सीखा। लेकिन वे सर्वत्र ही अपने व्यक्तित्मान, मेधा एवं दैवी आध्यात्मिकता के द्वारा लोगों को आकृष्ट एवं प्रभावित किये बिना नहीं रहते थे।

स्वयं स्वामी विवेकानन्द के लिए यह भारत भ्रमण अत्यन्त शिक्षाप्रद हुआ। उसने उनके लिए मौलिक चिन्तन तथा निष्पक्ष निरीक्षण एवं अवलोकन का द्वार खोल दिया। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पद प्रान्तों में बैठकर प्राप्त किए ज्ञान तथा उनके द्वारा संचारित-विचारों एवं उच्च आध्यात्मिक भावों की सत्यता को परखने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ। वे अपने पूर्व अर्जित विचारों के साथ नये अनुभवों की तुलना करते तथा इस तरह अभिनव सत्यों का आविष्कार करते। वे जिस किसी प्रदेश, नगर या तीर्थ में जाते वहीं की धार्मिक एवं सामाजिक भावधारा के साथ अपने को ओतप्रोत कर लेते, अपने मन को उन्हीं भावों से पूर्ण कर लेते। भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित नाना दार्शनिक मतवादों एवं धार्मिक सिद्धान्तों का उन्होंने इसी समय गहन अध्ययन किया।

इस परिव्राजक काल में ही स्वामी जी भारत एवं भारत वासियों की अन्तर्निहित महानता के गहन अध्ययन में निमग्न हुए थे। भारत वासियों की बाह्य विविधता के पीछे उसके आधार के रूप में स्थित एकत्व की वे सदा खोज में लगे रहे। उन्होंने यह पाया कि भारत आध्यत्मिक दृष्टि से एक है। वही एक सूत्र है, जो उत्तर दक्षिण, पूर्व पश्चिम के सभी भारत वासियों में समान रूप से विद्यमान है, तथा सभी को एक साथ बाँधता है। उन्हें यह ज्ञान हुआ कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही, भिन्न प्रतीत होते हुए भी हृदय से उदार हैं।

४

भगिनी निवेदिता के अनुसार स्वामी विवेकानन्द को हम जैसा जानते है, तथा भारत एवं विश्व को जो सन्देश उनसे प्राप्त हुआ है, इन दोनों के विकास में तीन बातें, तीन घटकों ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रथम उनकी शिक्षा, जो केवल पुस्तकों के पठन तक ही सीमित नहीं थी। उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान था और उसके माध्यम से वे भारत के पुरातन धर्म ग्रन्थों एवं संस्कृत साहित्य से पूरी तरह परिचित हुए थे। अंग्रेजी के माध्यम से वे पाश्चात्य विचारधारा से भी भली भाँति परिचित हो गये थे। पिता और माता से भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा था।

स्वामी जी के निर्माण में दूसरा घटक था, गुरु साक्षात्कार, एक ऐसे गुरु का संस्पर्श जिसने शास्त्रों के सत्यों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, जो आध्यात्मिक रहस्यों, सत्यों के घनीभूत विग्रह थे। उनसे उन्होंने, वस्तुतः जीवन की कुंजी ही पा ली। लेकिन यह भी भावी विवेकानन्द के निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं था। परिव्राजक अवस्था में किये गये भारत दर्शन ने एक साधक देशभक्त में एक अपरिपक्व युवक को मंत्रदृष्टा के ऋषि में एक संन्यासी को युगाचार्य में परिणत किया। परिव्राजक जीवन की समाप्ति पर जब वे अमेरिका जाने के लिए उद्यत हुए तब वे भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए कितने उपयुक्त थे इस विषय में एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा हैं।

"अपनी यात्राओं में स्वामी जी ने एक के बाद एक जैन धर्म एवं बुद्ध धर्म के सार का अनुभव किया, रामानन्द और दयानन्द की भावनाओं और विचारों से वे अवगत हुए। तुलसीदास और निश्चलदास के साहित्य के वे गहरे

विद्यार्थी बन गये। उन्होंने महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के अलवर और नायनार सन्तों के बारे में जानकारी प्राप्त की। परमहंस परिव्राजकाचार्य से लेकर लाल गुरु के गरीब भंगी मेहतर शिष्य तक के सभी वर्ग के धार्मिक वर्ग के आदर्शों एवं आशाओं को उन्होंने जाना था। उनकी स्वच्छ दृष्टि के सामने मुगलों का उत्कर्ष अखण्डित भारतीय राष्ट्रीय जीवन का एक अध्याय मात्र था। दृष्टि की उदारता एवं समन्वयात्मक साहस के कारण अकबर उनके अनुसार एक हिन्दू ही था। क्या ताजमहल संगमरमर का शाकुन्तल नहीं है? गुरु नानक, कबीर, मीरा और तानसेन के गाने उनके अधरों पर सदा रहते थे। पृथ्वी राय और दिल्ली की गाथा चितौड़ और राणा-प्रताप की कहानी के साथ गुथी हुई थी, शिव पार्वती, सीताराम राधाकृष्ण की विभिन्न घटना वलियों का जब वे वर्णन करते तो वे श्रोताओं के सामने साकार हो उठतीं। उनका समस्त हृदय और आत्मा भारत के एक ज्वलन्त महाकाव्य में परिणत हो गया था, और उनका हृदय भारत माता के नाम से ही आवेग से झंकृत हो उठता था।

उन्होंने मौलिक सत्यों, प्राणवन्त सिद्धान्तों एवं जीवनप्रद भावों को करामलकवत् हस्तगत कर लिया था। जीवन की रहस्यमय अमृत धारा का उन्होंने सन्धान पा लिया था। आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा आलोकित हो, उनका हृदय सत्य के द्वारा प्रज्ज्वलित हो उठा था. उनका विशाल मस्तिष्क उन तथ्यों को जोड़ने वाली कड़ी को खोजने में समर्थ हुआ था, जो दूसरों को केवल असम्बध घटनाएँ प्रतीत होती थी। उनकी बुद्धि वस्तुओं के मूल केन्द्र को भेदकर तथ्यों को उनके यथार्थ क्रम में प्रस्तुत कर देती थी। उनका मन सचमुच और सार्वभौमिक था और साथ ही साथ पूर्णरूपेण व्यावहारिक भी था।"

इस तरह परिव्राजक जीवन की परिसमाप्ति पर जब वे शिकागो में होने वाली धर्म सभा में सम्मिलित होने के लिए तैयार हुए तब वे एक प्रकार से घनीभूत भारत वर्ष ही हो गये थे। भारत की सभी विचार धाराओं के वैदिक, वेदान्तिक, जैन, बौद्ध यहाँ तक कि मुसलमान भारत के भी वे प्रतिनिधि बन चुके थे।

आज के संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द का सन्देश

श्री ओम प्रकाश शर्मा
जयपुर

स्वामी विवेकानन्द का एक स्वप्न था कि भविष्य में मानव इतना सम्पूर्ण रूप से विकसित होवे कि जात-पात, धर्म-सम्प्रदाय, काला-गोरा तथा नाना प्रकार के भेदभाव से ऊपर उठकर उसी एक परम तत्त्व को सब में देखे-नीचे से नीचे तथा ऊँचे से ऊँचे में और सबके साथ इसके अनुकूल व्यवहार करें। इसी को कहते हैं "व्यावहारिक वेदान्त" अथवा "आध्यात्मिक मानवतावाद"। इस अवस्था में मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर आदि की प्रधानता न रहकर "आत्मा द्वारा आत्मा" की अभ्यर्थना होती है। यह पूजा पद्धति वास्तव में बड़ी प्राचीन है और उसकी झांकी हमें श्री मद्-भागवद् के उस श्लोक से मिलती है जहाँ प्रभु कहते हैं: "मैंने सब भूतों में अपना वास बना लिया है, इसलिए मेरे को सब प्राणियों में देखकर उनमें मेरी सही ढंग से पूजा अर्चना करो-समदृष्टि तथा दान-मान सहित।" इसका अर्थ यह नहीं कि हम प्रत्येक व्यक्ति की औपचारिक रूप से आरती उतारें किन्तु उसकी आवश्यकताओं को यथासम्भव एवं सम्मानजनक ढंग से (हेय या उपेक्षा की दृष्टि से नहीं) पूरी करें। जो भूखा है उसको रोटी दें, जो नंगा है उसको वस्त्र, जो अशिक्षित है उसको

शिक्षा, जो रोगी है उसके लिए डाक्टरी उपचार, इत्यादि करना ही यथार्थ में भगवान की सेवा-पूजा करना है। रामकृष्ण मिशन के केन्द्रों में इसी ईश्वरीय भाव से सेवा-शुश्रूषा करने का हार्दिक प्रयास किया जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक और महत्वपूर्ण एवं आधुनिक संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक बात पर जोर दिया। वे कहते थे कि कोई भी व्यक्ति किसी भी कुल, जाति या धर्म में पैदा क्यों न हो-उसमें कोई दोष नहीं। किन्तु यदि वह उसी कुल, जाति या धर्म की चारदीवारी में कैद रह कर मरे तो वह बड़े दुःख की बात होगी। "मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जाट, राजपूत अथवा हिन्दू, मुसलमान, इसाई या अन्य कोई हूं, जन्म से, यह तो सब ठीक है। पर यदि मैं आगे बढ़ कर जीवनमुक्त-एक 'विश्व-मानव' 'सर्वभूतहिते रता:'--नहीं हुआ, तो 'कुछ नहीं हुआ।' ईश्वर उपलब्धि या आत्म-दर्शन का सुफल ही है "सार्वभौमिक सहानुभूति सम्पन्न" होना; इसका लक्षण ही है "त्याग और दूसरों की सेवा" में तल्लीन होना।

वास्तव में स्वामीजी के अनुसार जीवन की सार्थकता ही जीवनमुक्ति में है। वे स्वयं इस उच्च आदर्श के ज्वलन्त प्रतीक थे। वे कहते थे, "हम संन्यासियों का कौन सा देश, कौन सी जाति, कौन सा धर्म। हम तो उस देवता के पुजारी हैं जिसको कि अज्ञानतावश लोग 'मनुष्य' कहते हैं।" जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है; 'त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' इत्यादि। अर्थात् 'तुम्हीं स्त्री हो, तुम्ही पुरुष हो, तुम्ही कुमार अथवा कुमारी हो, और तुम्ही वह बूढ़ा आदमी हो जो लकड़ी के सहारे चलता हैं-हे प्रभु।' विशेषकर सारे विश्व के गरीब दीन-दुखी स्वामीजी के 'आराध्य देवी-देवता' थे और इस युग की धर्मगत-प्राण जनता को उनका यही सन्देश था: "नर में नारायण की सेवा करना ही युगधर्म है", और यही रास्ता है अपने स्वयं के तथा औरों के कल्याण का "आत्मानो मोक्षार्थम जगद्धिताय च"।

स्वामी विवेकानन्द का अति उदार धार्मिक दृष्टिकोण जो "जोड़ता है, तोड़ता नहीं" तथा जो वर्तमान के दूषित संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक है, इस बात से प्रमाणित होता है कि उन्होंने उनके एक मुसलमान अनुयायी, सरफराज खान, को एक पत्र में लिखा कि उनको स्पष्ट दीख रहा है कि भविष्य का भारत हिन्दू और मुसलमान-"वैदान्तिक मस्तिष्क एवं इस्लामिक शरीर"—के परस्पर सहयोग से बनेगा। आगे उन्होंने १८९७ में एक सारगर्भित भाषण (जिसे हम एक प्रकार से भविष्यवाणी ही कह सकते हैं) में इस देश की आम जनता-हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी और अन्य सब-को सम्बोधित करते हुए कहा: "आगामी पचास वर्षों के लिए हमारा केवल एक ही विचार केन्द्र होगा और वह है हमारी महान् मातृभूमि भारत। दूसरे सब व्यर्थ के देवी-देवताओं को उस समय तक के लिए हमारे मन से लुप्त हो जाने दो। हमारा भारत, हमारा राष्ट्र-केवल यही एक देवता है जो जग रहा है, जिसके हर जगह हाथ है, हर जगह पैर हैं, हर जगह कान है—जो सब वस्तुओं में व्याप्त है। दूसरे सब देवी-देवता सो रहे हैं—उनको सोने दो। हम क्यों इनके पीछे दौड़ें और उस जनसाधारण-रूपी देवता—उस विराट की पूजा क्यों न करें जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं?"

स्वामीजी की दृढ़ धारणा थी कि ईश्वर या आत्मदर्शन के उपाय तो पृथक-पृथक हो सकते हैं—रास्ते भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु मंजिल तो एक ही है। असली बात है वहां तक पहुँचना। "मत अनेक हैं किन्तु धर्म (जो धारण करता है वही धर्म) तो एक ही है।" और सब तथाकथित 'धर्मों' में श्रेष्ठ है 'मानव धर्म' यदि उसमें आध्यात्मिकता का सम्पुट दे दिया जाए तो। फिर वह भौतिकी या समाजवादी दर्शन का 'दोष-गुण युक्त' केवल-मानवतावाद न रह कर बन जाता है श्रेष्ठ 'आध्यात्मिक मानवतावाद' जिस पर आधारित होकर ही सब मानव मूल्य और मानवाधिकार सुरक्षित रह सकते हैं।

'इस्लाम खतरे में है' या हिन्दुत्व की रक्षा' की थोथी नारेबाजी से प्राणियों या 'धर्म' की रक्षा नहीं होगी और न ही उच्च स्वर में औपनिषिदिक उक्तियों का पाठ, जैसे कि 'ईशावास्य मिदम सर्व' या 'सर्वखलविदम् ब्रह्म'। इस उच्च अवस्था की अनुभूति होनी चाहिए। यह अद्वैतानुभूति प्राप्त करने के पश्चात् ही, जैसा कि श्रीरामकृष्ण परमहंस देव ने अपने जीवन में दर्शाया एक व्यक्ति यथार्थ में दूसरों के सुख-दुख में सही मायने में भाग ले सकता है, उसको स्वयं अनुभव कर सकता है। एक प्रसिद्ध घटना के अनुसार एक बार गंगा के बीच नाँव पर एक मल्लाह कोई अन्य व्यक्ति को बड़ी निर्दयता से पीट रहा था। जिसकी वेदनपूर्ण पुकार सुनकर और जिसकी दुर्दशा देख कर किनारे पर अपने कमरे की छत पर खड़े परमहंस देव जोर-जोर से रोने-चिल्लाने लगे और उनकी पीठ पर गहरे ऊँगलियों के निशान जम गये, जैसे उन्हें ही मारा हो ! इसी को यर्थाथ में 'धर्म लाभ' जो कि आत्मवत् सर्वभूतेषू की अनुभूति कराता है, हम कह सकते हैं। श्रीरामकृष्ण के द्वारा उद्‌घोषित "जितने मत उतने पथ," जो कि उनकी समस्त साधनाओं का निचोड़ है, इस युग का एक प्रकार से महामंत्र एवं शांतिपाठ है। विख्यात इतिहासकार आर्नल्ड टॉयइन्बी के अनुसार वह विश्व को आधुनिक काल में सबसे मूल्यवान भेंट है - विश्व शान्ति के लिए एक अद्वितीय फॉरम्यूला है। निश्चय ही ऐसे 'परमगुरु परमहंसदेव' के 'तत्व ज्ञानी' शिष्य, स्वामी विवेकानन्द, जो कि अपने आपको सब में देखते थे और सब धर्मो के गूढ़ रहस्य को जानते थे, ही सहज भाव से कह सकते थे। "मैं सब धर्मों को स्वीकार करता हूँ और उन सबकी पूजा करता हूँ। मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ईश्वर की उपासना करता हूँ, वे स्वयं चाहे किसी भी रूप में उपासना करते हों। मैं मुसलमानों की मस्जिद में जाऊँगा, मैं ईसाइयों के गिरजाघर में क्रास के सामने घुटने टेक कर प्रार्थना करूँगा, मैं बौद्ध मंदिरों में जाकर बुद्ध और उनकी शिक्षा की शरण लूँगा। मैं जंगल में जाकर हिन्दुओं के साथ ध्यान करूँगा जो हृदयस्थ ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करने में लगे हुए हैं। इतना ही नहीं बल्कि भविष्य में भी जो धर्म उत्पन्न होंगे मानव को विकसित करने के लिए– उसके दिव्य स्वरूप को उजागर करने के लिए—मैं उन सब के लिए भी अपने हृदय के द्वार खुले रखता हूँ।"

स्वामीजी की मान्यता थी कि इस युग में चरम आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए चारों योगों (ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा राजयोग) का उचित सम्मिश्रण ही उपयुक्त है--यही रामकृष्ण मिशन की भावधारा तथा जीवन आदर्श के अनुसार है।

११ सितम्बर, १८९३ को शिकांगो की सर्व-धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द ने अपना ऐतिहासिक प्रवचन दिया था और सितम्बर के महीने में ही पिचासी वर्ष बाद जयपुर में रामकृष्ण विवेकानन्द सोसायटी का गठन हुआ। एक दृष्टि से यह सोसायटी, जो बाद में जाकर रामकृष्ण मिशन, जयपुर में परिणित हो गयी, स्वामीजी की इच्छा-पूर्ति के लिए ही बनी और मिशन का उक्त केन्द्र अब स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित "व्यावहारिक वेदान्त", "सर्वधर्म सद्‌भाव" तथा "नर में नारायण की सेवा" का राजस्थान की राजधानी में एक प्रमुख केन्द्र बन गया है। स्मरण रहे कि स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी को लन्दन से लिखे एक पत्र (ता: १३ नवम्बर, १८९५) में 'जयपुर अथवा अजमेर' में एक केन्द्र खोलने की आवश्यकता पर बल दिया जिसके फलस्वरूप ही जयपुर में इस आश्रम की स्थापना हुई है। यहाँ से ही इस समस्त प्रान्त में, जो स्वामीजी को इतना अधिक प्रिय था और जहाँ के सुप्रसिद्ध खेतड़ी नरेश, राजा अजितसिंह को यह परम गौरव प्राप्त हुआ कि वे स्वामीजी को अमेरिका की ऐतिहासिक सर्वधर्म महासभा में भेजे'—इसी वीर भूमि में उन भारत के योद्धा संन्यासी' तथा उनके श्रेष्ठ गुरुदेव की अमृतवाणी और अमूल्य संदेश का प्रचुर प्रचार-प्रसार होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

महान देवदूत जराथुस्त्र

—श्री ए० एल० ठाकुर
चन्दुआ, २४ परगना

यूनानी ऐतिहासिज्ञों के मतानुसार कहा जाता है कि देवदूत जराथुस्त्र, यूनानियों द्वारा जोरोस्तर कहलाने वाले ईसवी सन् छः हजार पूर्व और पहलवी एवं प्राचीन पारसी परम्परा के अनुसार ईसवी सन् छः सौ पूर्व हुए थे। पिछली तिथि जैक्सन एवं हर्जफिल्ड जैसे पश्चिमी ईरानियों के अनुसंधानानुसार अधिक संभव जान पड़ता है। क्राइस्ट के हजारों वर्ष पहले सभ्यता के आरम्भ से ईरान में उपस्थित मजदयसना मत को ईरानी ऐतिहासज्ञों ने, मालूम पड़ता है, बड़े साइरस (५५८-५२८ ई० पू०) के आगमन के ठीक बाद जराथुस्त्र द्वारा पुनर्जीवित एवं कायाकल्पित मजदयसना पंथ को संभमित कर दिया।

जराथुस्त्र के जीवन, नैसर्गिक एवं वंशानुक्रम के ठीक विवरण उपलब्ध नहीं हैं, चूंकि प्राचीन ईरान के प्रायः समस्त धार्मिक एवं सांस्कृतिक साहित्य नष्ट कर दिये गये, जब मकदुनियाँ के सिकन्दर ने परसेपॉलिस में जो आधुनिक पारसियों द्वारा तख्ते जमशेद कहलाता हैं, शाही पुस्तकालय (इमपेरियल लाइब्रेरी) को जला डाला। पार्थियनों और ससानियों द्वारा जो कुछ बचाये जा सके उन्हें सातवीं शताब्दी में अरब आक्रमणकारियों ने सिलसिलेवार ढंग से वर्बाद कर दिया। फिर भी यूनानी और अरबी जंगली नास्तिक चट्टानों पर कटे हुए और पहुँच से बाहर पहाड़ों पर की खुदायियों में हाथ नहीं लगा सके और मौखिक परम्पराएँ मुँहों-मुँह, पुस्त-दर-पुश्त चली आयीं। इन दो अविनाशी स्रोतों से जो कुछ हम मजदयसना और जराथुस्त्र द्वारा किये गये जीर्णोद्धार के बारे में जानते हैं वह मूल्यवान थोड़ा है किन्तु वह थोड़ा जो हम जानते हैं हमें यथेष्ट विश्वास दिलाता है कि मजदयसना में प्राचीन ईरानियों ने रहस्यवाद, दर्शन, और नीति तथा नीतिशास्त्र का भण्डार बना रखा है जिसकी आज भी बराबरी नहीं की जा सकती बल्कि अकेला सबसे आगे है।

ईरान की मजदयसना पद्धति भारत के बहुत हद तक समान थी। वास्तव में सबसे प्राचीन ईरानी धर्म ग्रंथ गठा नाम से परिचित (अर्थ है, भजन) अभेस्ता भाषा में लिखे गये थे जो ऋगवेद संस्कृत के बहुत सदृश्य थे बनिस्बत ऋगवेद संस्कृत आधुनिक संस्कृत की तुलना में है।

अभेस्ता में मजदयसना का अक्षरशः अर्थ ईश्वर पूजा (मजद-ईश्वर और यसना-पूजा) हैं। मजदयसनी का अर्थ है ईश्वर का पुजारी।

अभेस्ता में आहूरा मजदा शब्द का सर्वसाधारण व्यवहार ईश्वर के लिए होता है ठीक जैसा अल्लाह अरबी में और जेहोता हिब्रू में। आहू-जीवित, प्राण अथवा आत्मा, जड़ आह, होना, "रा", अनुदान देना। अतः आहू—रा=प्राण देने वाला। मजदा का रूपान्तर संस्कृत में महादा किया जा सकता है। मह़ा=श्रेष्ठ और दा=देना, अनुदान। अतः मजदा=महान दाता। अतएव आहूरा मजदा का अर्थ प्राण देने वाला' महानदाता अर्थात् महान सृष्टिकर्त्ता है।

जरथुस्त्र द्वारा पुनर्जीवित किया हुआ मजदयसना ने यहूदी, क्रिश्चन और इस्लाम धर्म ग्रन्थों के लिए अन्तःप्रेरणा प्रदान की।

जरथुस्त्र का जन्मस्थान उत्तरी ईरान में "राए" कहा जाता है, जहाँ से उन्होंने ईरान के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और अन्त में "बाल्ख" (अब अफगानिस्तान में) राजा विश्तास्प के संरक्षण में मजदयसना का प्रचार करते हुए बस गये। वे सतहत्तर वर्ष की आयु में तूरानी लड़ाकुओं से, जो अग्नि-मन्दिर को, उनके पूजा करते समय अपवित्र कर रहे थे, अपनी आत्मरक्षा के लिए लड़ते हुए वहीं शहीद हो गये।

जरथुस्त्र के शुभेच्छु प्रशंसकगण देवदूत को अन्य देवदूतों के समान स्तर पर बनाये रखने के लिए जन्म से मृत्यु पर्यन्त चमत्कारपूर्ण करामात के लिए बड़ी प्रशंसा करते हैं और लड़कपन की गलत धारणानुसार किसी देवदूत को अपना विश्वास जमाने के लिए चमत्कार या करामात अपरिहार्य योग्यता है। किन्तु जरथुस्त्र ने स्वयं चमत्कारपूर्ण करामात करने का कभी दावा नहीं किया। मानवता को देवत्व की ओर ले जाने से बढ़कर और चमत्कारपूर्ण श्रेष्ठ कार्य क्या हो सकता है ?

(शेष अगले अंक में)

श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम

रामकृष्ण निलयम्

फोन : २६३६ जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

विनम्र निवेदन

श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम की स्थापना भगवान श्रीरामकृष्ण के एकमात्र गैर-बंगाली शिष्य और स्वामी विवेकानन्द के गुरु-भ्राता स्वामी अद्भुतानन्द जी महाराज की स्मृति में १९८४ ई० में की गयी। स्वामी अद्भुतानन्द जी का जन्म बिहार राज्य के छपरा जिला के एक गाँव में एक निर्धन गड़ेरिया परिवार में हुआ था। निरक्षर होने पर भी श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक निर्देशन में वे ब्रह्मज्ञ हुए और स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण की अद्भुत सृष्टि जानकर उन्हें स्वामी अद्भुतानन्द नाम से अभिहित किया।

आश्रम ने प्रायः २ एकड़ भूमि ९६ ००० रुपये में बिहार सरकार से अर्जित की। श्री रामकृष्ण के बिहार एवं बिहार के बाहर के भक्तों के कृपापूर्ण दान से ३५००० वर्गफीट में स्वामी अद्भुतानन्द स्मृति-भवन का निर्माण हो रहा है जिसमें भगवान का एक गर्भगृह (मन्दिर), प्रार्थना भवन, २ कमरों स्नानागार युक्त संत-निवास, एक बड़ा पुस्तकाय कक्ष, एक दातव्य औषधालय कक्ष, कार्यालय-कक्ष, भोजनालय, रसोई घर, राहत-भवन, भण्डार गृह आदि संयुक्त हैं। इसमें अब तक ७ लाख रुपये व्यय हो चुके हैं। निर्माण कार्य समाप्तप्राय है। किन्तु इसे अन्तिम रूप देने में अभी लगभग २ लाख रुपये और लगने की सम्भावना है।

अतः आपसे हमारा आन्तरिक एवं विनम्र निवेदन है कि इस महत् कार्य में अपनी सामर्थ्य एवं गरिमा के अनुरूप उदारतापूर्ण दान देकर हमें कृतार्थ करें। इस कार्य में बड़ा दान भी कम है और कम दान भी बहुत बड़ा है। आपका कोई भी दान हमारे लिए बहुत बड़ा सम्बल सिद्ध होगा।

प्रेम और शुभेच्छाओं के साथ

प्रभु सेवा में आपका

डा० केदार नाथ लाभ

सचिव

ध्यातव्य : (१) सभी प्रकार के दान सधन्यवाद स्वीकार किये जायेंगे।

(२) चेक या बैंक ड्राफ्ट "श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम" छपरा के नाम से क्रॉस किए हुए होने चाहिए।

(३) श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम को दिये गये सभी दान आय-कर के अधिनियम ८० जी. के अन्तर्गत आय-कर से मुक्त हैं।

डाक पंजीयित संख्या – सीं. एच. पी. – १४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना – ४ में मुद्रित।